प्रकाशक-
मास्टर मिश्रीमल
ऑ० मंत्री
श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति,
रतलाम

मुद्रक-
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,
रतलाम.

# श्री ज्ञातासूत्रम्

## प्रथम अध्याय

लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की बात है। भारतवर्ष में, दक्षिण की ओर, राजगृही नामक सुन्दर और विशाल नगरी थी। उस समय यह नगरी अपरिमित वैभव और धनधान्य से परिपूर्ण थी। वहां के निवासी नर-नारी बड़े पवित्रहृदय थे। महाराज श्रेणिक इस नगरी के राजा थे। श्रेणिक न्याय-

शील और पिता की तरह प्रजा के परिपालक थे। वह न्यायोपात्त धन का संचय करते हुए अपने जीवन को धर्म में लगाते और गृहस्थ के कर्त्तव्यों का सावधानी के साथ पालन करते थे। उनके राज्य में प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न था।

महाराजा का एक अत्यन्त प्रिय पुत्र था। उसका नाम अभयकुमार था। अभयकुमार राजनीति में निपुण था। उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। प्रत्येक महत्वपूर्ण राज्यकार्य में उसकी सम्मति ली जाती थी और उसकी सम्मति सदा नीतियुक्त और बुद्धिमत्तापूर्ण होती थी। अभयकुमार के मंत्रित्व में राज्य पूर्ण उन्नति पर थ और प्रजा भी सुखी एवं संतुष्ट थी।

महाराज के धारिणी नामक एक रानी थी। वह रानी बड़ी पतिव्रता और पतिपरायणा थी। वह सदैव पति की सेवा में संलग्न रहती थी। राजा-रानी का पारस्परिक व्यवहार एक आदर्श दम्पति के योग्य व्यवहार था।

एक रात्रि को महारानी अपनी शय्या पर सुखपूर्वक शयन कर रही थी। रात्रि का अन्तिम समय था। इसी समय स्वप्न में उसने देखा कि एक सुन्दर श्वेतवर्ण हाथी उसके मुँह में प्रवेश कर रहा है। इसी समय भेरी के श्रुतिमधुर

नाद ने उसकी निद्रा भंग कर दी। स्वप्न-दर्शन से रानी के मन में एक नवीन कौतूहल उत्पन्न हुआ। वह स्वप्न के शुभाशुभ फल को जानने की इच्छा से प्रसन्नतापूर्वक उठी और जहां महाराज श्रेणिक शयन कर रहे थे वहां पहुँची। महाराज के निकट जा उसने विनयपूर्ण, नम्र और मधुर शब्दों से उन्हें संबोधित किया। महाराज ने सजग होकर रानी की ओर प्रसन्नतापूर्वक देखा।

कथा से स्पष्ट है कि पूर्व समय में पति-पत्नी पृथक् शय्या पर शयन करते थे। उन्हें यह भली भाँति मालूम था कि एक ही शय्या पर सोने से रात भर कुत्सित काम-भावना जाग्रत होती रहती है, जिससे शारीरिक और मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। आजकल के वैज्ञानिक भी इसी मत का समर्थन करते हैं।

प्रातःकाल हुआ। मांगलिक भेरी की ध्वनि से राजमंदिर गूंज उठा। महाराज श्रेणिक अपनी सेज से उठे। शारीरिक कृत्यों से निवृत्त हो व्यायामशाला की ओर गए। व्यायामशाला अच्छे-अच्छे शूरवीरों के चित्रों से सजी हुई थी और व्यायाम के उपकरण यथास्थान रखे हुए थे। महाराज ने व्यायाम करके सारे शरीर में तैल-मर्दन किया। तैल-मर्दन से उनका समस्त शरीर अद्वितीय आभा से चमकने लगा।

वास्तव में शरीर को नीरोग और बलिष्ठ बनाने के लिए एक मात्र व्यायाम ही श्रेष्ठ साधन है, यह अनुभव-गम्य बात है और बड़े-बड़े शरीर-शास्त्रियों का भी यही मत है। व्यायाम करने से रक्त का संचार तीव्रता से होता है और वह सारे शरीर में यथेष्ट मात्रा में पहुँच जाता है। इससे खून में सफाई होती है और तेजी आती है। व्यायाम अनेक प्रकार से किया जा सकता है। प्रातःकाल भ्रमण, दण्ड, बैठक, दौड़, मुद्गर घुमाना, चलना-फिरना और अपने आवश्यक शारीरिक कार्य स्वयं करना, आदि शरीर में हरकत पैदा करनेवाले प्रत्येक कार्य व्यायाम में गिने जा सकते हैं। क्योंकि इन सब कार्यों से रक्त के संचार में तेजी आती है। व्यायाम से बल की वृद्धि होती है। एक कवि ने ठीक ही कहा है—

व्यायामपुष्टगात्रस्य बुद्धिस्तेजो यशो बलम्।
प्रवर्धन्ते मनुष्यस्य तस्माद् व्यायाममाचरेत्॥

अर्थात् "जिस मनुष्य का शरीर व्यायाम से पुष्ट होता है उसकी बुद्धि, तेज, यश और बल की वृद्धि होती है। अतः व्यायाम करना चाहिए।"

आजकल का जन-समाज ऐसा पराधीन और आलसी हो गया है कि उसे दो पैर से भी पैदल चलना कठिन हो

गया है। कई लोग तो पैदल चलना अपनी शान के खिलाफ़ समझते हैं। दुकान से शाक लाने के लिए भी उन्हें साइकिल की आवश्यकता होती है। यही हाल महिला-समाज का है। वे भी प्रायः सभी काम नौकरों के मत्थे मढ़कर आप आलस्यमय जीवन बिता रही हैं। इस आलस्य ने नर-नारियों को दुर्बल, रुग्ण और पराधीन बना दिया है। यही नहीं, निठल्ले बैठ रहने से मानसिक विकार भी अधिक परिमाण में उत्पन्न होते हैं और इससे नैतिक और धार्मिक पतन भी अधिक होता है। अपने हाथों कार्य करने से यतना भी रखी जा सकती है और शारीरिक तथा मानसिक सबलता भी प्राप्त की जा सकती है। अतएव प्रत्येक नर-नारी का यह कर्त्तव्य है कि वे गृहस्थी के निजी काम स्वयं ही यतना के साथ करें और व्यायाम को दैनिक कार्यों में शामिल कर लें। शरीरशास्त्रियों का ऐसा ही मत है और इसीलिए शास्त्रों में व्यायाम का जहाँ देखो वहीं वर्णन पाया जाता है। अस्तु।

व्यायाम के पश्चात् महाराज श्रेणिक ने शुद्ध जल से स्नान किया और शरीर पर सुगंधित द्रव्यों से विलेपन किया। फिर राजोचित उत्तम वस्त्र धारण कर छत्र चामर आदि वैभव के साथ राज-सभा की ओर प्रस्थान किया।

राजसभा का स्थान उच्च और विशाल था। दीवारों पर चतुर चित्रकारों द्वारा अंकित बहुमूल्य और सजीव-से चित्र अंकित थे। सभा के बीच-बीच में विशाल स्तंभ थे जो सुवर्ण और मणियों से जड़े हुए थे। बीच में मनोहर सिंहासन था जो मूल्यवान् हीरों के प्रकाश से जगमगा रहा था। सिंहासन के पार्श्व में मंत्रियों और सभासदों के बैठने योग्य सुन्दर आसन लगे हुए थे। सभासद् अपने-अपने आसनों पर बैठे हुए थे। सामन्त लोग शस्त्रों से सज्जित होकर अपने योग्य स्थानों पर खड़े हुए थे।

इसी समय चारणों के जय-जय-नाद के साथ महाराज ने सभा-भवन में प्रवेश किया। सभासदों और सामन्तों ने यथोचित अभिवादन किया और वह राज-सिंहासन पर विराजमान हुए।

रात्रि में देखे हुए स्वप्न के विशेष फल को जानने की इच्छा से महारानी भी राजसभा की ओर पधारीं। महारानी को आती देख महाराज श्रेणिक ने उनका यथोचित सत्कार किया और उन्हें ऊँच के अन्तर आसन पर बैठने की आज्ञा दी। इसी समय बुलाये हुए, समस्त प्रकार के स्वप्नों का फल जानने वाले स्वप्नशास्त्री,ज्योतिषी, आ गये। महाराज ने उन विद्वानों का यथायोग्य सत्कार

किया और योग्य आसनों पर बैठने की आज्ञा प्रदान की। तदनन्तर हाथों में पुष्प फल लेकर विनय के साथ रात में देखे हुए स्वप्न का फल पूछा। ज्योतिष विद्या के पारगामी वे ज्योतिषी विद्वान् बोले—महाराज, ज्योतिष शास्त्र में ७२ स्वप्न हैं। उन में से ४२ सामान्य और ३० अति श्रेष्ठ हैं। जब तीर्थंकर और चक्रवर्ती गर्भ में आते हैं तब उनकी माता उन श्रेष्ठ स्वप्नों में से १४ स्वप्न देखती हैं। इसी प्रकार वसुदेव की माता सात, बलदेव की माता चार और मांडलिक राजा की माता एक स्वप्न देखती है।

महारानी ने उक्त चौदह स्वप्नों में से एक हाथी का स्वप्न देखा है। इसके फलस्वरूप राज्य की वृद्धि होगी। हृदय सुख और आनन्द से परिपूर्ण होगा। नौ मास व्यतीत होने पर महारानी के गर्भ से महाभाग्यशाली एवं अतिभाग्यवान् सुपुत्र का जन्म होगा। वह बालक यथासमय विस्तृत सीमा पर राज्य करने वाला होकर क्रमशः उत्कृष्ट अनगार बनकर अपनी आत्मा को उत्कृष्ट बनाएगा।

ज्योतिषियों के मुख से इस प्रकार का श्रेष्ठ फल सुन-कर महाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए और यथोचित पारितोषिक देकर उन्हें विदा किया।

महारानी भी स्वप्न के शुभ फल को सुनकर संतोष

और आनन्द के साथ राजभवन में चली गई और हृदय में परमोच्च भावनाएँ रखती हुई गर्भ का प्रतिपालन करने लगीं।

समाज के दुर्भाग्य से आजकल कुछ लोग गर्भ के प्रतिपालन को भी पाप समझने का पाप कर रहे हैं। उनकी इस धारणा में कितना अविवेक है, कितनी निर्दयता है, कितनी हिंसा भरी हुई है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार की मान्यताएँ मनुष्य के हृदय में रहने वाली कोमल और कल्याणकर वृत्तियों को नष्ट कर मनुष्य को क्रूर और कठोर बनाती हैं। वस्तुतः यह मान्यता ऐसी है जो मानव-हृदय के प्रतिकूल और धर्म के मूल को उन्मूलन करने वाली है। अस्तु।

क्रमशः महारानी के गर्भ के दो मास व्यतीत हो गये। तीसरे महीने में उनके हृदय में दोहद उत्पन्न हुआ। उनकी इच्छा हुई—इस समय ( वर्षा काल न होने पर भी ) आकाश सघन घन-घटाओं से आच्छादित हो जाय, बिजली कड़कने लगे, मेघ की गर्जनाओं से दसों दिशाएँ व्याप्त हो जायँ, इन्द्रधनुप आकाश की अनुपम शोभा बढ़ाने लगे, मन्द-मन्द पवन थिरकने लगे, मृदु फुहारें पड़ रहे हों और पृथिवी पर हरियाली की मखमली चादर बिछी हो। ऐसे

सुहावने समय में, मैं अपने प्राणनाथ के साथ हाथी पर सवार होकर समस्त सेना-सहित वैभार गिरि के समीप भ्रमण करूँ। किन्तु वर्षा ऋतु न थी; अतएव महारानी की यह कामना सफल न हो सकी। इसका प्रभाव यह हुआ कि उनका शरीर धीरे-धीरे शिथिल और निर्बल पड़ने लगा। सेवा में रहने वाली एक दासी ने महारानी के चिन्तित रहने की सूचना महाराज को दी। यह सूचना पाकर महाराज को भी खेद हुआ। वे उसी समय महारानी के महल की ओर प्रयाण करने के लिए प्रस्तुत हुए।

वास्तव में पति का यही कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी को सहधर्मिणी और अर्धाङ्गना समझे। उसकी समस्त चिन्ताओं को दूर करना, रोग और वेदना का यथोचित उपाय करना, यथाशक्ति शुश्रूषा करना, हृदय को सान्त्वना देकर सब प्रकार से उसकी सहायता करना, पति का परम कर्त्तव्य है। पति और पत्नी का अखंड और आजीवन संबंध होता है। एक का जीवन दूसरे पर निर्भर रहता है। अतः पति को चाहिए कि वह पत्नी में यदि कुछ न्यूनताएँ देखे तो भी झुंझला न उठे, घबरा न जाए, बल्कि शान्ति के साथ उसकी कमजोरियों को दूर करके अनुरूप सहचरी बनाले। उसे आदर की दृष्टि से देखे। उसको आवश्यक-

ताओं की यथासंभव पूर्ति करे। सदा संतुष्ट और प्रसन्न रखे। पति, पत्नी से जैसे स्नेहमय व्यवहार की आशा रखता है वैसा ही व्यवहार वह पत्नी के साथ करे। अपने-अपने विकास में एक-दूसरे के सहायक बनें, बाधा न पहुँचावें। जहां स्त्रियों की प्रतिष्ठा होती है वहां देवता-दिव्य पुरुष-लोकोत्तर संतान, रमण करते हैं। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' इस वाक्य का यही सुन्दर अभिप्राय है।

खेद है कि आर्यावर्त्त की परमोत्कृष्ट दाम्पत्य व्यवस्था आज शिथिल हो गई है। स्त्रियों के प्रति आज पुरुष-वर्ग की जो ओछी धारणा है, उन्हें जिस अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता है, उसने कौटुम्बिक सुख और शान्ति का अन्त कर दिया है। आज स्त्री केवल विषय-वासना की पूर्ति का सुलभ से सुलभ साधन समझी जाती है। घर का काम-काज करने के लिए उसे दासी माना जाता है। उसके साथ अपमान और तिरस्कार का व्यवहार किया जाता है। दुर्भाग्य से यदि स्त्रियाँ कभी रोग का शिकार बन जाती हैं या किसी प्रकार की मनोवेदना से व्याप्त हो जाती हैं तो उन्हें पति एवं सास आदि से सान्त्वना मिलने के बदले फटकार मिलती है। उन्हें ताने सुनने पड़ते हैं और इस प्रकार उनके कष्ट को चौगुना बढ़ा दिया जाता है। सेवा

और सहानुभूति तो दूर रही, यथोचित औषधि तक उन्हें नसीब नहीं होती। इस दुर्व्यवहार के कारण वर्तमान में बड़ी भीषण समस्या उठ खड़ी हुई है। समाज में उथल-पुथल मच गई है। पहले पति–पत्नी दोनों एक थे, दोनों के अधिकार एक थे; पर पुरुष-जाति की स्वार्थपरता ने उन्हें अलहदा कर दिया है। आज स्त्रियां अपने अलग अधिकारों की मांग कर रही हैं। पुरुष वर्ग यदि शीघ्र चेत जाय और प्राचीन काल की भांति स्त्रियों को अपनी अर्धांगिनी समझने लगे, उनके सुख-दुख का साथी और सखा बन जाय तो अब भी बहुत अंशों में आर्य संस्कृति की रक्षा हो सकती है। वास्तव मे जो कन्या अपने प्राणप्रिय माता-पिता का परित्याग कर पति और सुसराल को अपना आश्रय बनाती ह, पति के चरणों पर हंसते-हंसते अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है, जो पति के सुख-दुख को अपना ही सुख-दुख मानती है, स्वयं मुसीबतें झेलकर पति को सुख पहुंचाने में कुछ उठा नहीं रखती, उसके दुख-दर्द में काम न आना, पति का बड़ा से बड़ा विश्वासघात है। पति को समझना चाहिये कि वह यदि पति है तो वह भी 'पत्नी' है, वह 'स्वामी' है तो वह 'स्वामिनी' है, वह वल्लभ है तो वह भी 'वल्लभा' है। यदि पुरुष, स्त्री को दासी समझेगा तो उसे स्वयं दास बनना होगा, जूती समझेगा तो उसे भी जूता बनना पड़ेगा। अस्तु।

महाराज श्रेणिक महारानी का आदर करते थे। वे उसी समय महारानी के पास आये और मधुर शब्दों में संबोधन कर के कहने लगे "प्रिये! तुम्हारा यह मनोहर मुख-मंडल क्यों मलिन और छवि-हीन हो रहा है? बताओ, शीघ्र बताओ. किस चिन्ता ने तुम्हारे हृदय में अपना स्थान बनाया है? मैं तुम्हारी सभी चिन्ताओं को दूर करूंगा।"

महाराज के इन मधुर वचनों को सुनकर महारानी ने कुछ उत्तर न दिया तब महाराज फिर कहने लगे-"वल्लभे, चुप क्यों हो? अपने हृदय की वेदना कहो। पति से कोई बात गुप्त न रखनी चाहिए।" तब महारानी ने कहा—"नाथ, मुझे बड़ी विचित्र साध हुई है। मैं चाहती हूँ—इस समय वर्षा ऋतु के दृश्य दिखाई देने लगें और मैं आपके साथ हाथी पर बैठकर वैभारगिरि के समीप भ्रमण करूँ। मेरी यह साध किस प्रकार सधेगी, इसी बात की चिन्ता है।"

महारानी की साध सुनकर महाराजा श्रेणिक ने उन्हें सान्त्वना दी। कहा—"प्रिये, चिन्ता न करो। शीघ्र ही मैं तुम्हारी सब अभिलाषा पूर्ण करूंगा।"

महारानी की चिन्ता तो दूर हो गई; पर महाराज राज-सभा में जाकर, सिंहासन पर विराजमान होकर गहरे सोच-

विचार में पड़ गये। उनकी समझ में नहीं आता था कि यह समस्या कैसे हल की जाय ?

इसी समय महाराज के स्वनाम-धन्य पुत्र अभयकुमार ने राजसभा में प्रवेश किया। वे महाराज के चरण स्पर्श कर एक ओर खड़े हो गये। अभयकुमार ने देखा—जब मैं पिताजी के समीप आता था तो वे मुझे बुलाते थे, समीप बिठलाते थे। आज क्या कारण है कि वे मुझ से बोले तक नहीं ? अभयकुमार का पिता के प्रति अगाध भक्तिभाव था। वह माता-पिता के असीम उपकार को भलीभांति समझता था और उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए प्राणों की भी ममता न करता था। वह समझता था—जिन्होंने मुझे जीवन देकर मेरा पालन-पोषण किया है, जिनके अप्रतिम स्नेह से परिपूर्ण गोद में क्रीड़ा कर बड़ा हुआ हूँ, उनके लिए जीवन उत्सर्ग कर देना क्या बड़ी बात है ? अतएव अभयकुमार ने सोचा, अवश्य आज महाराज किसी गहरे विचार में डूब रहे हैं। उसने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक पूछा—"पिताजी, आज किस विचार में मग्न हो रहे हैं ? प्रतिदिन जब मैं आपकी सेवा में उपस्थित होता था तो आप प्यार से पास में बिठाते थे। आज मैं कभी का आपके समीप खड़ा हूँ। आपने बैठने की भी आज्ञा प्रदान नहीं की और न मेरी ओर दृष्टि ही डाली। सेवक के रहते आपको चिन्ता क्यों ?

आज्ञा दीजिए, ऐसा कौन-सा दुष्कर कार्य है जो आपके प्रसाद से मैं न कर सकूं ? किस चिन्ता ने आपको गंभीर बना दिया है ?"

कैसा आदर्श परिवार है ! प्रत्येक व्यक्ति में निःस्वार्थता है, सभी एक-दूसरे की चिन्ता दूर करने को व्यग्र हैं । कोई किसी का दुःख सहन नहीं कर सकता । पत्नी की चिन्ता, पति ने अपने माथे सहर्ष ग्रहण कर ली और पिता का चिन्ता-भार पुत्र अपने सिर पर लेने को उद्विग्न हो रहा है । शुद्ध प्रेम और शुद्ध भक्ति यही तो है ! आज कल के परिवार कलह के केलि-भवन बने हुए हैं । यदि वे इस परिवार के त्याग, स्नेह और सहानुभूति का अनुकरण करें तो सर्वत्र शांति, संतोष और सुख का साम्राज्य फैल जावे ।

अभयकुमार की सान्त्वनापूर्ण बात सुन महाराज श्रेणिक की विचारधारा भंग हो गई । उन्होंने महारानी की इच्छा का वृत्तान्त सुना कर अन्त में कहा—'बेटा, तुम्हारी माता की वर्षा-कालीन दृश्य देखने की इच्छा कैसे पूर्ण हो सकती है, इसी सोच-विचार में पड़ा हूँ । अभी तक कोई उपाय नहीं सूझ रहा है । उसे पूर्ण तो करना ही होगा ।'

अभयकुमार ने पिता की चिन्ता का असली कारण जान कर उत्तर दिया—'पिताजी, यह कौन-सी बड़ी चिन्ता

की बात है? आप प्रसन्न हों, चिन्ता त्यागें। मैं माताजी की कामना पूर्ण करूंगा।'

महाराज का शोक कम हुआ। उन्हें अपने पुत्र की चमत्कारिणी बुद्धि का पूरा भरोसा था। पुत्र को प्रेमपूर्वक विदा किया। इधर कुमार ने सोचा—पानी बरसा देना कोई कठिन कार्य नहीं है। वायु के अमुक प्रकार के सम्मिश्रण से यह कार्य सहज ही सम्पन्न किया जा सकता है। किन्तु असमय वर्षाकालीन अन्यान्य दृश्य दिखला देना अवश्य कठिन है। यह मानव-शक्ति से परे है। अतएव दिव्य शक्ति की सहायता लेने की आवश्यकता है। विचार करने के पश्चात् उसे स्मरण आया—'मेरा एक परम प्रिय मित्र मर कर स्वर्गलोक में महा ऋद्धिधारी देव हुआ है। वह मेरी माता की अभिलाषा पूरी कर सकता है।' यह विचार कर वह अपनी पौषधशाला में गया और पौषधव्रत धारण कर दृढ़ आसन से उस देव की आराधना करने लगा। तीन दिन के पश्चात् उसकी साधना सफल हुई। उसके मित्रदेव के शरीर में एक प्रकार का स्फुरण हुआ। देव ने अवधिज्ञान के बल से अभयकुमार की साधना को जाना। अवधिज्ञान से बिना इन्द्रियों और मन की सहायता के दूर की रूपी वस्तु जानी जा सकती है। अस्तु। देव अपने पुण्ड-

रीक विमान में बैठ कर तत्काल अभयकुमार के पास आ पहुँचा और अपना परिचय देकर बोला—" कुमार, आपने मुझे स्मरण किया था। मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। मेरे योग्य क्या कार्य है? कहिए, अभी पूरा करूँ।"

देव मित्र की बात सुनकर अभयकुमार बहुत प्रसन्न हुआ। बोला:—मित्रवर, मेरी पूजनीया माता इस समय वर्षा-कालीन दृश्य देखना चाहती हैं। यह कार्य आपके ही अनुग्रह से संपन्न हो सकता है। कृपा कर माताजी की कामना पूर्ण कीजिए।

देव ने कहा—'कठिनाई पड़ने पर मित्र की सहायता करना सच्चे मित्र का कर्त्तव्य है। दो हृदयों के मिलने में सच्ची मित्रता उद्भूत होती है। मित्रता उत्पन्न हो जाने पर दोनों हृदय एकमेक हो जाते हैं। अतएव आप और मैं जुदा नहीं और आपकी माता, मेरी भी माता ही हैं। ऐसी अवस्था में कृपा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं भाग्यशाली हूँ कि आज माताजी की कुछ सेवा करने का अवसर मिला है। अस्तु, मैं जाता हूँ और अभी इच्छानुसार व्यवस्था किये देता हूँ।' यह कह देव वैभार पर्वत के निकट गया और अपनी दिव्य विद्या के बल से उसने वर्षा-काल की रचना कर दी।

वर्षाकालीन रचना हो जाने के अनन्तर अभयकुमार ने महाराज श्रेणिक के समीप जाकर प्रार्थना की—पिताजी, आपकी आज्ञा के अनुसार वर्षाकाल उपस्थित है। आप माताजी को ले जाकर उन्हें संतुष्ट करें।

महाराज श्रेणिक की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उन्होंने नगर को तोरण आदि से सजाने की आज्ञा दी और सेनापति से चतुरंगिणी सेना सुसज्जित करने को कहा।

महारानी धारिणी ने हर्ष के साथ सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणों से शरीर सिंगारा। प्रधान हाथी सजकर तैयार हुआ। महाराज और महारानी उस पर सवार हुए। सेवक चवँर ढोरने लगे और मनोहर वाजों की ध्वनि से दिशाएँ ध्वनित हो उठीं। चतुरंगिणी सेना से परिवेष्टित हो महाराज वैभारगिरि की ओर रवाना हुए। सुन्दर और चित्र-विचित्र पताकाओं से सज्जित समस्त नगर का अवलोकन करते हुए वे नगर के विशाल द्वार—फाटक—के बाहर जा पहुँचे। तदनन्तर अनेक कमनीय काननों, सुन्दर सरोवरों और छोटे-छोटे पर्वतों को निहारते-निहारते वे वैभारगिरि के निकट पहुँचे। वैभार पर्वत ने सब के मन विभार-भार-हीन बना दिये। वैभार के नैसर्गिक रमणीय दृश्यों का दर्शन कर महारानी और महाराज आनन्द-विभोर हो गये। इधर-उधर घूम-फिर कर उन्होंने एक जगह विश्राम लिया और

अमृतोपम मधुर भक्षणीय फलों का आहार किया।

महारानी की साध पूरी हुई। वन-विहार का आनन्द भोग कर नगर की ओर प्रस्थान किया। अन्त में पौषध-शाला में जाकर अभयकुमार ने देवमित्र का यथोचित आदर-सत्कार किया और प्रशंसा के पुल बांधते हुए उसे विदा कर दिया। देवमित्र स्वर्गलोक लौट गया।

महारानी धारिणी सुखपूर्वक गर्भ की रक्षा करती हुई समय व्यतीत करने लगीं। वह बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे चलती, धीरे-धीरे उठती-बैठती और सोती थीं। दिन में कभी सोती न थीं। हित-मित और पथ्य आहार करती थीं—अधिक गरिष्ठ, चरपरा, खट्टा, कड़ुवा, और कसैला भोजन न करती थीं। समयानुकूल, यथासमय, शुद्ध, सादा, सात्विक भोजन खाती थीं। चिन्ता, शोक और भय के कारणों को पास भी न फटकने देती और प्रसन्नतापूर्वक ही समय विताती थीं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हुंडावसर्पिणी काल के प्रभाव से एक ऐसा सम्प्रदाय जन्मा है जो गर्भ की रक्षा को भी पाप समझता है। यह पाप भी जब धर्म के मत्थे मढ़ा जाता है तो उसकी गुरुता और भी बढ़ जाती है। इस सम्बन्ध में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। यह विषय ऐसा है कि प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति इस सम्बन्ध में

धर्म अधर्म का निर्णय स्वयं कर सकता है। भला वह कार्य धर्म किस प्रकार हो सकता है जो मानव-हत्या का निमित्त बन जाय? जो मानव-समाज की स्वतः उत्पन्न कोमल भावनाओं का सत्यानाश करे! 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' अर्थात् धर्मात्माओं के बिना धर्म स्थिर नहीं रह सकता, इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य-प्राणी धर्म के आधार हैं और जो धर्म अपने आधार की रक्षा करना पाप समझता है वह उस मूर्ख की श्रेणी में गिना जाना चाहिए जो उसी डाली को काटता है जिस पर वह स्वयं बैठा है! आश्चर्य तो यह है कि ऐसे धर्म(!) को मानने वाले लोग अपने समर्थन के लिए शास्त्रीय वाक्यों का दुरुपयोग करने में भी नहीं हिचकते हैं। अस्तु। महारानी धारिणी ने गर्भ रक्षा के लिए जो उपाय किये थे उनका उल्लेख करके शास्त्रकार स्पष्ट रूप से गर्भ रक्षा का मार्ग प्रदर्शन कर रहे हैं और इसी से यह बात सिद्ध है कि गर्भ-रक्षा करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है—वह पाप नहीं हो सकता।

आखिर नौ मास और कुछ दिन व्यतीत हुए! अर्द्ध रात्रि का समय था। आकाश शुभ्र और शान्त था। प्रकृति प्रसन्न थी। इसी समय महारानी के गर्भ से एक सुन्दर बालक ने जन्म लिया। महारानी का हृदय हर्ष से उछलने लगा। दासियों ने उसी समय जाकर यह शुभ संवाद महा-

राज श्रेणिक को सुनाया। महाराज का रोम-रोम हर्ष से भर गया। उन्होंने इस बधाई के उपलक्ष्य में दास-दासियों को निहाल कर दिया। नगर-रक्षक को बुलाकर संपूर्ण नगर सजाने की आज्ञा दी।

आनन्द-भेरी बजने लगी। मनोरम वाद्य-ध्वनि से सारा नगर कोलाहलमय हो गया। ध्वजा-पताकाएँ सर्वत्र लहराने लगीं। सड़कों पर सुगन्धित जल का सिंचन किया गया। सारा नगर इस प्रकार सज गया मानों स्वर्गलोक हो।

जिस समय की यह कथा है उस समय राजा-प्रजा का सम्बन्ध पिता और पुत्र की भांति स्नेहपूर्ण था। राजा अपनी प्रसन्नता में प्रजा को अवश्य सम्मिलित करता था। वह प्रजा के सुख में सुखी और दुख में दुखी होता था। प्रजा भी राजा को ईश्वर का अंश मानकर उसका आदर करती थी। आज की भांति राजा, प्रजा को चूसने की अभिलाषा न रखता था और इसीलिए न प्रजा ही राजा को अपना दुश्मन समझती थी। उस समय दोनों का जीवन मानों एक सूत्र में बँधा था। राज्य एक बड़ा परिवार था और उस परिवार का मुखिया राजा कहलाता था। अब वे सब आदर्श अतीत के असीम उदर में समा गये हैं। फल यह हो रहा है कि प्रत्येक देश में सर्वत्र अशान्ति ही का दौरदौरा है। विद्रोह, विद्वेष और मारकाट के भयंकर दृश्य

दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अस्तु, महाराज श्रेणिक ने अपनी प्रजा को भी आनन्द में शरीक किया। प्रजा भी आनन्द में फूली न समाई। समस्त कैदियों को कारागार से मुक्त कर दिया गया। दस दिन के लिए सब प्रकार का राज्य कर माफ़ हो गया। प्रजा ने भी अपनी ओर से खूब महोत्सव मनाया। घर-घर में मंगलगान होने लगे, अनेक प्रकार के वाद्य बजने लगे।

महाराज ने याचकों को मनचाहा दान दिया। विद्वानों का यथोचित सम्मान किया और कुटुम्बियों का समुचित सत्कार कर संतुष्ट किया।

तीसरे दिन महाराज श्रेणिक ने समस्त नगर-निवासियों को निमंत्रित कर बालक का नामकरण-संस्कार किया। गर्भ में आने पर माता को वर्षा ऋतु का अनुभव करने की अभिलाषा हुई थी; अतएव बालक का नाम 'मेघकुमार' रखा गया। सभी उपस्थित जनता ने इस नाम पर अपनी सम्मति प्रकट की।

बालक मेघकुमार दूज के चन्द्रमा की भाँति दिनों दिन बढ़ने लगा। अनेक दासियाँ उसकी सेवा के लिए सदैव तत्पर रहती थीं। कोई दासी उसे दूध पिलाती, कोई सुंदर वस्त्राभूषण पहनाती, कोई नहलाती और कोई गोदी में लेती और पालने में सुलाती थी। बालक की सुंदरता अनुपम

थी। जो भी एक बार उसे देख लेता, वह बार-बार देखे बिना न रहता, फिर भी कभी संतुष्ट न हो पाता था। क्र-मशः बालक मेघकुमार जब घुटनों के बल रेंगता-रेंगता माता के समीप आने लगा तो माता की प्रसन्नता का पार न रहा। उसे मानों तीन लोक की निधि मिल गई। इसी प्रकार जब वह कुछ और बड़ा हुआ तथा बालकों के साथ क्रीड़ा करने लगा तो माता-पिता अतीव प्रसन्न हुए।

बालक मेघकुमार जब आठ वर्ष से कुछ अधिक उम्र का हो गया तो महाराज श्रेणिक ने उसे विद्याध्ययन के योग्य समझकर शुभ मुहूर्त में सभी विद्याओं के पारगामी विद्वान, अनुभवी अध्यापक के पास उसे भेज दिया। क्यों कि पिता का कर्त्तव्य बालक को जन्म देने मात्र से पूर्ण नहीं हो जाता बल्कि जन्म देने के पश्चात् ही पिता का कर्तव्य आरंभ होता है। मानव-जीवन की महत्ता को समझने, जी-वन का योग्य दिशा में विकास करने और उसे समर्थक ब-नाने के लिए विद्या ही एक मात्र सफल उपाय है। विद्या-विहीनः पशुः, अर्थात् जो मनुष्य विद्या से हीन है वह नरा-कार होने पर भी वस्तुतः नर नहीं, पशु है। इस लोक और परलोक दोनों विद्या से ही सार्थक होते हैं। पर जैसे-तैसे अध्यापक के पास बालक को सौंप देने से भी विद्या का प्र-योजन नहीं सिद्ध होता। अच्छा अध्यापक वही है जो अपने

विषय का पारंगत पंडित हो और जिसने ज्ञान के फल चारित्र को अर्थात् सदाचार को प्राप्त कर लिया हो। सदाचार के बिना ज्ञान का मूल्य कानी कौड़ी के बराबर भी नहीं है, यही नहीं बल्कि दुराचारी का ज्ञान उसके अधिक दुराचार का कारण हो जाता है। अतएव शिक्षा जैसी महत्वपूर्ण वस्तु के लिए वही अध्यापक चुनना चाहिए जो ज्ञानी, सदाचारी और अनुभवी हो। साथ ही निष्कपट भाव से शिष्य के आगे अपना सारा कोप खोल कर रख दे। आदर्श शिक्षक 'सर्वतो विजयमिच्छेत् शिष्यादिच्छेत् पराजयम्' अर्थात सबपर विजय पाने की इच्छा रखता हुआ भी अपने शिष्य से पराजित होने की इच्छा रखता है। तात्पर्य यह कि वह अपने से भी अधिक विद्वत्ता अपने शिष्य में देखना चाहता है। ऐसा आदर्श गुरु ही सच्चे शिक्षक के उच्च पद को प्राप्त कर सकता है। अस्तु।

बालक मेघकुमार की बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। प्रत्येक विषय को वह शीघ्र ही हृदयंगम कर लेता था। अतएव थोड़े ही समय में वह गणित, न्याय, व्याकरण, काव्य, शकुनशास्त्र आदि विद्याओं और समस्त कलाओं में निपुण हो गया। राजनीति और प्रजापालन सम्बन्धी विषयों का भी उसने पूर्ण अध्ययन कर लिया। सैन्य संचालन, व्यूहभेदन, शस्त्रप्रहार आदि युद्ध कला के सब अंगोपांगों में वह

कुशल हो गया। उसकी वक्तृत्व शक्ति बड़ी तेज थी। अपने पक्ष का मण्डन करने में उसका अद्भुत कौशल था और विरोधी पक्ष को नाना युक्तियों और हेतुओं द्वारा क्षण भर में खण्डित कर डालता था।

जब आचार्य ने मेघकुमार को भलीभांति कुशल समझा तो वे उसे साथ लेकर महाराज के पास आये। बोले— 'महाराज, बालक मेघकुमार बड़ा प्रतिभाशाली और होनहार है। उसने बड़ी शीघ्रता से सब शास्त्रों और कलाओं में चामत्कारिक कौशल प्राप्त किया है। कोई कला शेष नहीं रही जिसे कुमार प्राप्त न कर चुका हो।' महाराज ने आचार्य की प्रशंसा करते हुए उन्हें योग्य आसन पर बिठलाया और कुछ समय बाद उनका यथोचित सम्मान करके विदा किया। कुमार को स्नेह से देखते हुए माता के पास जाने की आज्ञा प्रदान की।

प्राचीन काल में बस्ती से दूर जंगलों में बड़े-बड़े गुरुकुल होते थे। उनमें अनुभवी 'कलाचार्य' बालकों को सब प्रकार की सुशिक्षा देते थे। गुरुकुल में राजा-रंक सभी के बालक समानभाव से रहकर, ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करते हुए, सादगी और संयम से रहकर विद्याध्ययन किया करते थे। 'कलाचार्य' शिष्यों को अपने पुत्र की भांति स्नेहपूर्वक रखते थे। उस समय आजकल की भांति धनिक न थे जो

विद्याध्ययन को वृथा समझते हैं। वे भली भांति जानते थे कि विद्या केवल उदरपूर्ति का साधन नहीं है। जीवन का विकास, धर्म की रक्षा और समाज की उन्नति शिक्षा पर ही अवलंबित है। अतएव कुबेर के समान धन होने पर भी वे अपने पुत्र को शिक्षित अवश्य बनाते थे। लक्ष्मी चंचल है। उसे 'चंचला' कहते भी हैं। उसके भरोसे संतान को अशिक्षित रखना बादल की छाया के भरोसे छतरी को तोड़ फेंकने के समान अविवेकपूर्ण कार्य है। धन का कौन ठिकाना है? आज है कल गायब! ऐसी अवस्था में मनुष्य के पास यदि ज्ञान न हुआ तो विपत्तियों की सीमा नहीं रहती। अस्तु, प्रत्येक माता-पिता का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपनी संतान को अवश्य शिक्षित बनावे।

धीरे-धीरे कुमार ने यौवन में प्रवेश किया। शरीर के सब अंगोपांग खिल-से उठे। मुखपर अनुपम आभा दमकने लगी। शरीर पुष्ट और बलिष्ट हो गया, पर उनके मस्तिष्क में अनुचित विकारों ने प्रवेश नहीं किया था। घृणित वासनाएँ उनके हृदय को छू नहीं सकी थीं। यौवन के मद में वे उन्मत्त नहीं हो गये थे। उन्होंने अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन बना रखा था; परन्तु माता-पिता ने जब कुमार का यह विकास देखा तो उन्हें कुमार के विवाह की चिन्ता हुई। वे कुमार के अनुरूप रूप-गुण-संपन्न कन्याओं की खोज

करने लगे।

कथा का यह प्रसंग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे हमें अनेक उपयोगी शिक्षाएँ मिलती हैं। प्रथम तो यह पता चलता है कि प्राचीन काल में युवावस्था प्राप्त होने पर ही विवाह किया जाता था। आजकल की भाँति छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं का विवाह कर के पुराने लोग उनके जीवन को बर्बाद नहीं करते थे। कच्ची उम्र में विवाह कर देने से मनुष्य अल्पायुष्क, अस्वस्थ, चिररोगी, निस्सत्व और पराक्रमहीन हो जाता है। आगे जाकर उसे जीवन असह्य भार प्रतीत होने लगता है। उसमें न ओज होता है, न तेज होता है। उसका जीवन एक बुरी बलाय बन जाता है। छोटी उम्र की बालिकाओं का विवाह करने से उन्हें भी यही हानियां उठानी पड़ती हैं, परन्तु समाज के नियम स्त्रियों के लिए कुछ अधिक संकुचित हैं; अतएव उनकी कठिनाइयां भी पुरुषवर्ग से अधिक हैं। इसलिए जो माता-पिता अपनी संतान को दीर्घजीवी, स्वस्थ और संपन्न देखना चाहते हैं उन्हें विवाह-संस्कार में शीघ्रता न करनी चाहिए। वे अधिक से अधिक समय तक ब्रह्मचर्य-पालन करें, ऐसा सुन्दर गृहस्थी का वातावरण बनाना चाहिए अथवा किसी विश्वसनीय-प्रामाणिक संस्था में उन्हें रख देना चाहिए।

इस प्रसंग में दूसरी बात ध्यान देने योग्य है—अनु-

रूप कन्याओं की। स्त्री-पुरुष का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध केवल भोग भोगने का सुलभ साधन नहीं है, वरन् अनेक सद्‌गुणों के विकास का साधन है। स्त्री-पुरुष मिलकर भली भांति अपना-अपना योग्य विकास कर सकते हैं; परन्तु दोनों एक दूसरे के अनुरूप होने चाहिएँ। अयोग्य सम्बन्ध दोनों के विकास में रोड़ा अटकाता है। इससे दोनों का जीवन नीरस और कलह का मूल बन जाता है। पुरुष जब किसी उच्च भावावेश में मस्त होकर, दिव्य कल्पना के वायुयान पर आरूढ़ होकर विस्तृत व्योम में विचरता है उस समय पत्नी आकर यदि गहनों और वस्त्रों की मांग का एक झटका देकर उसे एकदम नीचे गिरा देती है, तो पति के हृदय में एक मार्मिक चोट-सी लगती है। मानों किसी ने स्वर्ग से खींच कर नरक में पटक दिया हो! फल यह होता है कि दोनों में मनोमालिन्य हो जाता है और तब गिरस्ती धूल में मिल जाती है। विषम संयोग के दुष्प-रिणाम आये दिन सैकड़ों की संख्या में सुने जाते हैं। जिनकी प्रकृति, पसंदगी और शिक्षा विषम होती है उनका पारस्परिक सम्बन्ध सफल नहीं होता। अस्तु।

महाराज ने कुमार के योग्य सुन्दर और सदाचारिणी आठ राजकुमारियों की खोज की। वह आठों ही अष्ट सिद्धियों के समान मंगलमयी और गुणों से परिपूर्ण थीं। उनके सब

अंग सुन्दर और आकर्षक थे। विनय, नम्रता, लज्जा और शील आदि मनोहर और सच्चे आभूषणों से उनका शरीर शोभायमान हो रहा था। उनके साथ खूब उत्सव और उत्साह के साथ मेघकुमार का विवाह किया गया।

महाराज श्रेणिक ने उन सबके रहने के लिए सुन्दर-सुन्दर आठ महलों का निर्माण कराया। इन महलों में मेघकुमार अपनी रूपवती और गुणशीला भार्याओं के साथ विनोद और क्रीड़ा करता हुआ समय व्यतीत करने लगा।

परम अहिंसा धर्म के उपदेश-द्वारा संसारी प्राणियों को सत्य मार्ग में लगाते हुए, अनन्तज्ञानी, परम कारुणिक, अशरण-शरण, हितोपदेशक, वीतराग, दीर्घतपस्वी, श्रमण भगवान् महावीर, अनेक देशों में विचरते हुए राजगृही नगरी में पधारे और गुणशील नामक उपवन में विराजमान हुए! उनके पधारने का समाचार विद्युत्-वेग से समस्त राजगृही में फैल गया। श्रमण भगवान् के परम पवित्र दर्शनों के लिए राजगृही की जनता उमड़ पड़ी। सुन्दर २ वस्त्राभूषण पहन कर, लोकोत्तर भक्ति की भावना से भरे हुए, गंतव्य मार्ग में आंखें गड़ाए हुए लोग उपवन की ओर रवाना हुए।

मेघकुमार अपने महल के किसी उच्च स्थान पर बैठे हुए नैसर्गिक सौन्दर्य को निहार रहे थे। श्रावकों के समूह के

समूह गुणशील उपवन की ओर जाते देखे तो उन्हें कौतू-
हल हुआ। तत्काल सेवक से पूछा—"नगर के ये नर-नारी
भक्ति के साथ इस ओर क्यों जा रहे हैं ?"

सेवक ने कहा—कुमार! भूले-भटके भव्य जीवों को
मुक्ति का मनोहर मार्ग बताने वाले, श्रमण-मणि महावीर स्वा-
मी यहां पधारे हैं। उनके दिव्य उपदेश को श्रवण करने
एवं दर्शनों से अपने नयनों को कृतार्थ करने के लिए नगर-
निवासी उस ओर जा रहे हैं।

सेवक की बात सुन कुमार के रोम-रोम में हर्ष नाचने
लगा। भक्ति-भाव से हृदय भर गया, मानों कोई महान् नि-
धि उन्हें मिल गई हो। वे भी भगवान् के दर्शनार्थ जाने की
तैयारी करने लगे। उन्होंने स्नान किया, स्वच्छ वस्त्रों से
अपना शरीर अलंकृत किया और अनेक योग्य पुरुषों के साथ
उपवन की ओर चल दिये।

उपवन में पहुंच कर जहाँ से भगवान् के दर्शन होते
थे वहीं रथ से नीचे उतर पड़े, और पांच प्रकार से अभि-
गम किया। फूलमाला आदि सचित्त पदार्थों को अपने पास
न रहने दिया, उत्तरासन कर हाथ जोड़े, सांसारिक व्या-
पारों से चित्तवृत्ति हटाई और प्रभु की परम पावन भक्ति उन
के हृदय-सरोवर में तरंगित होने लगी। जब वे भगवान् के
निकट आ पहुँचे तब विनय और श्रद्धा के साथ भगवान् को

वन्दन और नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार के अनन्तर यथोचित स्तुति करके अपने योग्य आसन पर बैठ गए।

भक्तवत्सल भगवान् ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का वास्तविक स्वरूप समझाया और इन तत्त्वों की हृदयस्पर्शिनी मार्मिक व्याख्या की। जीव और कर्म का संबंध कैसे और क्यों होता है? कर्म, आत्मा को किस प्रकार नाना योनियों में भ्रमण कराते हैं? कर्मों से आत्मा का छुटकारा किन उपायों द्वारा हो सकता है? जीव का निरुपाधिक-असली स्वरूप क्या है? मुक्ति क्या है? कल्याण का मार्ग क्या है? इत्यादि विषयों का युक्ति और उदाहरणों के साथ सुन्दर शैली से प्रतिपादन किया। उनके परम प्रशम-परिपूर्ण उपदेश-पीयूष का परिषद् ने प्रेम के साथ आकण्ठ पान किया। सब श्रोताओं ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार नियम व्रत आदि ग्रहण कर उपदेश-श्रवण को सार्थक बनाया और यथोचित श्रद्धा-भक्ति प्रकाशित कर सब लोग अपने-अपने घर लौट आये।

वास्तव में उपदेश-श्रवण का सच्चा फल तभी प्राप्त होता है जब उसे आचरण में लाया जाए। जो सुनता सब कुछ है पर करता कुछ भी नहीं, उसका सुनना, न सुनने के ही समान है। वह अपने मनोरंजन के लिए सुनता है या किसी प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है अथवा उप–

देशक की योग्यता जानना चाहता है। वह उपदेश को आत्मश्रेय का साधन नहीं बनाता। एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देना, उसकी वास्तविकता या हेयोपादेयता पर विचारना न करना, केवल एक प्रकार की धृष्टता कही जा सकती है। अतएव श्रोता का कर्त्तव्य है कि वह जिस उपदेश को सुने उसके हेयोपादेय बिंदुओं पर विचार करे और उस विचार को शक्ति के अनुसार व्यवहार में लाए। आत्मकल्याण का यही मार्ग है।

मेघकुमार ने भगवान् की सुधासिक्त वाणी का बड़ी तल्लीनता के साथ श्रवण किया। उनके उपदेश-आलोक से मेघकुमार के हृदय का मोहान्धकार हट गया। ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश से उनकी आत्मा जगमगाने लगी। सद्विचार रूपी वायु से मेघकुमार का मोहरूपी सघन मेघ छिन्नभिन्न हो गया। संसार उन्हें नाटक के समान अन्तस्तत्वहीन नजर आने लगा। धन सम्पत्ति आदि बिजली की चमक के समान क्षणिक भासने लगी। उनके हृदय में वैराग्य की उत्तुंग तरंगें तरंगित होने लगीं! विषय, विष के समान प्रतीत होने लगे। उन्होंने नम्रता और मधुरता के स्वर में भगवान् से अभ्यर्थना की—"प्रभो! आपके उपदेश ने मेरे मोह को दूर कर दिया है, अब मेरे नेत्र खुले हैं। संसार का भयावह स्वरूप जानकर मेरा हृदय उससे

कांप उठा है। प्रभो! मेरा मन संसार से बिलकुल विरक्त हो गया है। संसार के भोग-विलास मुझे अतीव भयानक प्रतीत होने लगे हैं। देवाधिदेव, मैं संसार के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करना चाहता हूँ। मैं माता-पिता के समीप जाकर, उनकी आज्ञा प्राप्त कर महाव्रत धारण करना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—'भव्य, तुम्हारी वैराग्य-भावना कल्याणकर है। आत्मश्रेय की प्राप्ति करना प्राणी मात्र का कर्त्तव्य है। जिस कर्त्तव्य से सुख की प्राप्ति हो उसके करने में विलम्ब न करना चाहिए।'

भगवान् की अनुमति समझकर मेघकुमार शीघ्र ही माता-पिता के निकट आये। उन्हें यथोचित अभिवादन कर कहने लगे—"आज मैं बहुत ही भाग्यशाली हूँ कि मुझे श्रमण भगवान् के सदुपदेश को श्रवण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। मेरा भाग्य धन्य है कि उस उपदेश से मेरा मोह तिमिर तिरोहित हो गया है। मेरी रग-रग में वैराग्य की विद्युत्-लहर लहरा रही है। इस निस्सार और नश्वर संसार से मैं ऊब गया हूं। पूज्य माताजी और पिताजी! आप मुझे आज्ञा दीजिए जिससे मैं संसार का मायाजाल हटा कर साधु-वृत्ति स्वीकार करूँ! आत्म कल्याण का यही अद्वितीय मार्ग है।"

पुत्र के इन कर्णकटु वचनों को सुनकर पुत्रवत्सला

माता धारिणी अपने को सँभाल न सकीं। वह मूर्छित हो-कर धड़ाम से धरती पर जा गिरीं। दासियाँ दौड़ीं। शीतल जल मस्तक पर डाला गया और पवन आदि शीतलोपचारों से उन्हें होश में लाने का प्रयास किया गया। जब उनकी मूर्छा दूर हुई तब वह अत्यन्त करुणापूर्ण स्वर में बोलीं—बेटा, यह क्या कह रहा तू? मेरी आँखों को शीतल करने वाला एक मात्र तू ही मेरा परम प्रिय पुत्र है। तू मेरी आँखों की पुतली है, मेरा कलेजा है, मेरा प्राण है। तुझे क्षण भर के लिए भी मैं दूर नहीं कर सकती। बेटा, जब प्राण ही अलग हो जाएँगे तब मेरा यह जीवन कैसे टिकेगा? मैं किसके सहारे अपना जीवन निभाऊँगी? मेरे लाल, अभी तेरे दीक्षा लेने का समय नहीं है। अभी संसार के सुख तू ने देखे ही कहाँ हैं? यह अवस्था राज्य-सुख के भोग के योग्य है। जब तक मैं जीवित हूँ राज्य-भोग कर मुझे संतुष्ट करो। मैं दीक्षा का विरोध नहीं करती पर सब कार्य समय-समय पर शोभा देते हैं। अभी श्रावक के व्रतों का पालन करो और अपने माता-पिता को सुखी बना कर गृहस्थ के कर्त्तव्य पालो।"

माता की ममता भरी बातें सुनकर मेघकुमार ने अत्यन्त धैर्य के साथ कहा—"माँ, संसार संबंधी मोह बड़ा भयंकर है। इस मोह जाल में जीव अनादिकाल से उलझा आ रहा

है। मोह ने सम्यग्ज्ञान को विलुप्त कर दिया है, मिथ्याज्ञान अपना प्रभाव जमाये बैठा है। इसी मिथ्याज्ञान के माहात्म्य से संसारी जीव नाना व्याधियों के भोग बन रहे हैं। वास्तव में न कोई किसी का पुत्र है न कोई किसी की माता ही। सब झूठे नाते हैं—यह तमाम कल्पना की सृष्टि है। आत्मा शाश्वत है, अजर अमर है। न कभी उत्पन्न होता न विनष्ट होता है। ऐसी हालत में जन्म-जनक-जननी की कल्पना पारमार्थिक कैसे हो सकती है? माँ, जरा अन्तर्दृष्टि से देखो। जीवन का क्या भरोसा है? यह अभी है अभी नहीं। शरीर एक मशीन है, कौन जाने कब वह बिगड़ जाएगी? यमराज 'समदर्शी' है। वह बालक, वृद्ध, युवा का भेद नहीं देखता। सब को समान समझता है। तब भविष्य पर निर्भर रह कर वर्त्तमानकालीन कर्त्तव्य की उपेक्षा कर बैठना कहां तक उचित कहा जा सकता है? इसलिए यह बुद्धिसंगत है कि जब मनुष्य को स्व-पर का भेद समझ में आ जाय तब वह पल भर भी विलम्ब न करके पर का परिहार कर स्व को स्वीकार करे!

माताजी, सांसारिक भोगोपभोगों की अभिलाषा बड़ी विचित्र है। वह कभी संतुष्ट नहीं होती। 'जहा लाहो तहा लोहो' ज्यों-त्यों प्राप्ति होती है त्यों-त्यों और अधिकाधिक प्रा करने की कामना बढ़ती ही चली जाती है। एक का-

मना पूर्ण करने जाते हैं और सौ नयी कामनाएँ सामने आ जाती हैं। यह मायाजाल बड़ा रहस्यमय है। संतोष का साधन-समता भाव है। जिस हृदय में विरक्ति उत्पन्न हो जाती है वह हृदय विषय वासनाओं के लिए ऊसर बन जाता है। उसी से मनुष्य को शान्ति और सुख नसीब होता है। अतएव सच्चा सुख विषयभोगों का परित्याग करने से ही प्राप्त होता है।

मानव-जीवन क्षणिक है। शरीर अनेक व्याधियों का घर है, अशुचि है और सदा स्थिर रहने का नहीं। फिर भी उसका श्रेष्ठ से श्रेष्ठ उपयोग हो सकता है और वह यही कि उसे आत्मकल्याण का साधन बना लिया जाय। यदि उससे यह कार्य न लिया गया तो वह निष्फल है। एक दिन आएगा जब बिजली की चमक के समान या सन्ध्याकालीन मेघों के समान देखते-देखते पल भर में ही वह विलीन हो जायगा। जब तक वह है तब तक उसे शाश्वत श्रेय में लगा लेना ही बुद्धिमत्ता है। अतएव माताजी, आप वास्तविकता का विचार करें और मुझे आज्ञा दें कि मैं उस परम सत्य की प्राप्ति के लिए सर्वस्व का उत्सर्ग करूँ।"

मेघकुमार की वैराग्य-परिपूर्ण बातें सुनकर उनके पिता बोले—" बेटा, यदि तुम्हें संयम ही धारण करना था तो विवाह क्यों किया था? देखो, तुम्हारी आठ नव-

युवती पत्नियाँ हैं। उन्होंने संसार का क्या सुख देखा है? उन्हें सुखी बनाना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। और यह असीम साम्राज्य तेरा स्वागत कर रहा है। इसे स्वीकार कर। लक्ष्मी तेरी दासी के समान है। इन सबका अपमान न करो। सांसारिक सुख भोग कर फिर आत्मकल्याण का पथ अंगीकार करना।"

मेघकुमार ने गंभीरता से उत्तर दिया—तात, संसार में सुख ही नहीं है तब भोगा क्या जाय? जिसे संसारी लोग सुख कहते हैं वह तो निरा दुःख है। संसार में वास्तविक सुख की कल्पना ही नहीं की जा सकती। दुख को सुख समझना महान् अज्ञता है। तिस पर, विषय तो विष हैं-घृणित और निंद्य हैं। इनको मैं अन्तःकरण से त्याग कर चुका हूँ। वमन किये हुए भोजन की भाँति अब इन भोगों को मैं स्वीकार नहीं कर सकता। पिताजी, सुख और दुःख, अपने-अपने कर्मों के फल हैं। कोई किसी को सुखी और दुःखी नहीं बना सकता। यदि कोई किसी को सुखी-दुःखी बना सके तो कर्म सिद्धान्त ही बदल जायगा। अतएव मैं दूसरों को सुखी बनाने में असमर्थ हूँ। हाँ, दुःख का कारण कर्म-शत्रु हैं। जो भाग्यशाली नर-नारी इन शत्रुओं को भाव युद्ध में परास्त कर देता है वही निष्कं-टक सुख-साम्राज्य का अधिकारी बनता है। अतएव प्रत्येक

सुखाभिलाषी को इसी पथ का अनुसरण करना चाहिए ' अनादि काल से अब तक न मालूम कितने जन्म धारण कर कितनी वार विवाह किये हैं ! मगर उनसे शाश्वत सुख कभी नहीं मिला अब की बार मैं लोकोत्तर विवाह करना चाहता हूँ ' मुक्ति कन्या का मैं पाणिग्रहण करूँगा । बस यही मेरा अन्तिम विवाह होगा । उसी से असीम और सहज सुख की प्राप्ति होगी । मैं मोक्ष नगर का सम्राट् बनूँगा । मेरा वह साम्राज्य बिजली की भांति क्षणिक नहीं वरन आकाश की भाँति असीम और आत्मा की भाँति शाश्वत होगा । ''

माता-पिता ने देखा-मेघकुमार अपने संकल्प पर सुमेरू की तरह अचल है । अनुकूल प्रलोभनों का उसके हृदय पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा है । तब उन्हों ने संयम की भयंकरता का चित्रण करना चाहा । सोचा-संयम की कठिनाइयों से मेघकुमार का कोमल हृदय घबड़ा उठेगा अतएव उन्हों ने कहा-"बेटा, तुमने ठीक कहा है । वास्तव में संयम ही सच्चे सुख का कारण है । संयम के द्वारा ही आत्मा कर्मों का नाश कर मुक्ति को पाता है । पर इस उच्चतम संयम का पालन करना बच्चों का खेल नहीं है । वह दूध-बतासे का कौर नहीं है जिससे चटपट निगला जा सके । संयम को तुम जितना सुलभ समझे बैठे हो वह उतना ही

कठिन है। संयम-तलवार की धार पर दौड़ना है। वह कोई हँसी-ठट्ठा नहीं है। कदाचित् लोहे के चने चबाना सरल है पर साधु-वृत्ति का पालन करना कठिन है। कहां तुम्हारा मक्खन सा मुलायम शरीर और कहां मुनिजीवन के भयंकर उपसर्ग और परीषह! बड़े-बड़े युद्धों में प्रचंड शत्रुओं के छक्के छुड़ा देने वाले पराक्रमी योद्धा भी संयम के विकट दुर्ग में प्रवेश करने में हिचकते हैं। संयम में प्रवेश करना मानों भयंकर तरंगों से उछलते हुए प्रलयकालीन समुद्र को भुजाओं से पार करना है। आये दिन भूख, प्यास, सर्दी गर्मी आदि की व्यथा सहना और कंटकमय भूमि पर बिना जूते पैदल भ्रमण करना सहज नहीं है। आज तक तुमने किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक वेदना नहीं भुगती है। राज महल से बाहर एक पैर भी पैदल नहीं चले हो। शीत और गर्मी के कष्टों को जानते तक नहीं हो। ऐसी स्थिति में संयम के गुरुतर भार को किस प्रकार सम्भाल सकोगे? इसलिए हे पुत्र, कहा मानो। पहले कुछ अनुभव प्राप्त कर लो फिर संयम धारण करना।

कुमार ने कहा—पिताजी, कठिनाइयों से डरना कायर और डरपोक का काम है। कोई भी कठिनता मेरे मार्ग में बाधक नहीं हो सकती। शूरवीर पुरुष कठिनाइयों को निमंत्रण देता है और शक्ति का परीक्षण करता है। वीरता से

उन्हें परास्त कर अपने संकल्प को सिद्ध करता है। यह ठीक है कि संयम धारण करना ऐसे वैसे का काम नहीं—वीर पुरुष ही उसे धारण कर यथायोग्य पालन करते हैं। कायर और भीरु मनुष्यों का यह मार्ग नहीं है। मगर मैं सिद्ध कर दूँगा कि संयम का किस प्रकार पालन किया जाता है। आपने क्षुधा, तृषा और शीत उष्ण आदि परिषहों का उल्लेख किया है, पर पिताजी, यह कष्ट नरक और तिर्यंच गति के घोर कष्टों के सामने किस गिनती में हैं? इस जीव ने अनन्त बार इन योनियों में उत्पन्न होकर परतंत्रता से भयंकर दुःखों को सहन किया है तब स्वेच्छा से शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए थोड़े-से कष्टों को सहन करना क्या बड़ी बात है? पिताजी, मुनि जीवन की कोई भी कठिनाई मुझे अपने संकल्प से च्युत नहीं कर सकती। मेरा मन सुमेरु की तरह अचल है। मैंने भली भांति सोच विचार कर ही इस मार्ग में चलने का निश्चय किया है, विचारहीन भावुकता से नहीं। अतएव कृपा कर चरम और सर्वोत्कृष्ट सिद्धि संपादन करने की मुझे आज्ञा प्रदान कीजिए"

माता-पिता अपने पुत्र के दृढ़ संकल्प को देख निराश हो गए। उन्होंने सोचा दीक्षा ग्रहण करने का प्रण यह अब नहीं छोड़ेगा। तब बोले—'कुमार, दीक्षा ग्रहण करना ही है तो भले ही करो पर एक बात हमारी स्वीकार करनी

होगी। हम तुम्हें कम से कम एक दिन राज्य-सिंहासन पर देखने के लिए उत्सुक हैं। हमारी आज्ञा से एक दिन राज्य-कार्य सँभालो, फिर जैसी इच्छा हो वही किया जायगा।"

माता-पिता के इस आग्रह से कुमार मौन धारण कर गंभीर विचार में पड़ गए। उनके मौन से पाठक यह न समझें कि कुमार का मन राज्य प्रलोभन ने आकर्षित कर लिया होगा। कुमार, माता पिता के इस अनुनयपूर्ण आग्रह को भी न स्वीकार करते तो माता-पिता को बड़ी चोट पहुँचती। ऐसा व्यवहार मेघकुमार के लिए अत्यंत निठुरता-मय होता। इसके अतिरिक्त उन्हें यह भी विश्वास था कि माता-पिता की आज्ञा पालन करने के पश्चात् संयम-ग्रहण करने की शीघ्र ही आज्ञा मिल सकेगी। फिर वे इंकार न कर सकेंगे। अस्तु, उन्हों ने जनक और जननी की इस आज्ञा को स्वीकार कर लिया।

बड़े समारोह के साथ महाराज ने मेघकुमार को राज्या-सन पर बिठलाया और राजा के समस्त अधिकार उन्हें सौंप दिये। मेघकुमार ने आन्तरिक उदासीनता से राज्य किया। एक दिन बीतते क्या देर लगती है? दूसरा दिन हुआ और कुमार ने माता-पिता के समीप जाकर फिर संयम--धारण करने की आज्ञा चाही। बोले—'पिताजी, आपकी आज्ञा का पालन हो चुका है। अब दीक्षा लेने की आज्ञा दीजिए।'

महाराज वचन-बद्ध थे, कुछ न बोले। राज्यकोष से उन्होंने तीन लाख मोहरें निकलवाईं जिनमें से दो लाख ओघा और पात्रों के लिए भेज दीं और एक लाख नाई को दीं।

पाठक शायद आश्चर्य करें कि इस प्रकार लाखों मोहरें ओघे पात्रों और नाई को क्यों दी जाती होंगी! बात यह है कि उस समय ओघे पात्र दुकान से बिना ही मूल्य दिये जाते थे; किन्तु यदि कोई उनका मूल्य देना ही चाहे तो उसे इतना मूल्य देना ही पड़ता था। राजा तथा अन्य श्रीमान लोग यही मूल्य देकर खरीद करते थे। इसी प्रकार नाई को इतना अधिक द्रव्य इसलिए दिया गया था कि वह संतुष्ट रहे और अन्य साधारण जनों से द्रव्य न माँगे। इसके अतिरिक्त उस समय का भारतवर्ष संपन्न भारतवर्ष था—आज की तरह भिखारी नहीं।

महाराज ने अत्यंत समारोह के साथ दीक्षा दिलाने का प्रबन्ध किया। अनेक श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित पुरुषों को अपने साथ लेकर दीक्षा दिलाने के लिए वे भगवान् महावीर स्वामी के पास पहुँचे। भगवान् के समक्ष खड़े होकर उन्होंने कहा—प्रभो! यह कुमार बड़ा ही सुकुमार है और हम लोगों को प्राणों से अधिक प्रिय है। किन्तु आपका सदुपदेश सुनकर जन्म-मरण के दुःखों से उद्विग्न होकर आपके पास साधुवृत्ति अंगीकार करना चाहता है! मैं आप को शिष्य रूपी

शिक्षा देना चाहता हूँ। कृपा कर इसे स्वीकार कीजिए। यह कह कर कुमार को प्रभु के सामने खड़ा कर दिया।

संसार से उदासीन मेघकुमार ने ईशान दिशा में जाकर अपने सब बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण उतार डाले। उस समय मातृ-हृदय की ममता फिर उबल पड़ी। उसका हृदय गद्गद् हो गया। वास्तव में माता का हृदय संसार में सब से बढ़कर स्नेहमय होता है। वह न जाने किन कोमल और भावग्राही परमाणुओं से बनता है! पर महारानी ने अपने को तत्काल ही सँभाल लिया और किसी प्रकार धीरज धरकर बोली—बेटा, दीक्षा लेते हो, लो। तुम्हारी दीक्षा सफल हो। संयम पालन करने में किसी प्रकार की शिथिलता न आने देना। मेरी हार्दिक कामना है कि तू शीघ्र ही अपने अन्तिम उद्देश्य को प्राप्त कर। ध्यान रखना बेटा, मेरे दूध को लजाना मत।

किसी प्रकार कलेजे को थाम कर और एक प्रकार की खिन्नता के साथ महाराज और महारानी भगवान् को यथोचित वन्दना-नमस्कार कर वापस लौट आए।

मेघकुमार समस्त वस्त्राभूषण उतार कर भगवान् के सामने विनीत भाव से खड़ा होकर बोला—प्रभो, मैं अपना यह अमूल्य मानव-जीवन संयम में व्यतीत करने के लिए आपकी शरण में उपस्थित हूँ। अनुग्रह कीजिए और आप

स्वयमेव दीक्षा और शिक्षा देकर मेरे जीवन को सार्थक कीजिए।

भगवान् ने मुनिधर्म में दीक्षित करते हुए कहा—'भव्य, अब से जीवनपर्यंत तुम्हारे सामने एक ही लक्ष्य रहना चाहिए। सतत जागृत रह कर आत्मा की चौकसी करनी होगी। संसार के क्षुद्र और अनर्थमूल विषय-कषायों से मुँह मोड़ लेना होगा। अपने अन्तिम लक्ष्य पर पहुंचने के लिए प्रतिपल प्रयत्न करना पड़ेगा। उठते-बैठते, चलते, सोते—प्रत्येक क्रिया करते समय संयममार्ग को स्मरण रखना। मनसा वाचा कर्मणा पूर्ण अहिंसा का पालन करना। मुनियों के पाँच महाव्रत समिति, गुप्ति आदि जो-जो कर्तव्य हैं उन्हें निर्दोष निभाना चाहिए।

भगवान् की इस अमृतमयी वाणी को मुनि मेघकुमार ने ध्यान से सुना और शिरोधार्य किया। भगवान् की आज्ञा के अनुसार वे संयम में विचरने लगे।

संध्या हुई। सोने के लिए बिछौने बिछाए गए। सब बिछौने छोटे-बड़े के अनुक्रम से बिछाए गये थे। मेघ मुनि का बिछौना सब से पीछे और दरवाजे के पास बिछाया गया।

पिछली रात्रि में कोई मुनि स्वाध्याय के लिए, कोई पृच्छना के लिए, कोई धर्म के स्वरूप का चिन्तन करने के

लिए, कोई लघुनीत आदि के लिए आने-जाने लगे । जब कोई मुनि आते तो मेघ मुनि कभी हाथ सिकोड़ते, कभी पैर सिकोड़ते । कभी सिर सिकोड़ना पड़ता, कभी धड़ सिकोड़ना पड़ता । कभी-कभी किसी मुनि का पैर उन्हें लग जाता और कभी पैरों की धूल उन पर या उनके बिछौने पर गिर जाती। इससे उनकी निद्रा में बड़ी बाधा पड़ी । रात्रि बड़े कष्ट से किसी प्रकार कटी । वह विचारने लगे-'मैं, सम्राट् श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार जब गृहस्थावस्था में था तब ये सब मुनि मेरा यथायोग्य आदर-सत्कार करते थे और मधुर शब्दों में मुझे तत्त्वज्ञान सिखाते थे । अब दीक्षा लेने के अनन्तर न तो किसी मुनि ने मेरा कुछ आदर किया और न मिठास से कोई बोला ही । प्रत्युत मुझे महाकष्ट देकर पल भर भी निद्रा न लेने दी । हाय ! व्यर्थ ही मैंने मुनि दीक्षा धारण की। माँ ने और पिताजी ने मुझे बहुतेरा समझाया था; किन्तु उनका कहा न मानकर मैं इस आपत्ति में फँस गया। मैंने भूल की। पर क्या अब यह भूल सुधर नहीं सकती ? अभी तो मैं नवदीक्षित ही हूँ । प्रातःकाल होते ओघा-पात्र भगवान् को सौंप कर राजमहल का रास्ता लूँगा । बीच में माता के 'बेटा, मेरे दूध को न लजाना' ये शब्द स्मरण हो आए। सोचा—मैंने माता-पिता के समक्ष कितनी वीरता के स्वर में आपत्तियों को सहन करने की बात कही थी ? अब क्या

कहकर उन्हें अपना मुँह दिखलाऊँगा ?……मगर आखिर तो वे मां-बाप हैं। मेरे पहुँचने से प्रसन्न ही होंगे। अतएव प्रातःकाल इस झंझट से छूट जाना ही श्रेयस्कर है।"

इस प्रकार विचार करते-करते बड़ी कठिनाई से रात्रि समाप्त हुई। प्रातःकाल होते ही मेघमुनि भगवान् के समक्ष जाकर लजाते हुए कुछ बोलने की चेष्टा करने लगे भगवान् दिव्यज्ञान के धारी थे। मेघमुनि के हृदय में रात्रि के समय जो संकल्प-विकल्प हुए थे भगवान् ने उन्हें भलीभाँति जान लिया था। अतएव मेघमुनि के बोलने से पहले ही भगवान् ने उन्हें संबोधित कर कहा—"क्यों मेघ, रात के ज़रा से कष्ट से ही घबड़ा गए तुम! संयम त्याग कर घर जाने के लिए उद्यत हो गए? यही तुम्हारी दृढ़ता और वीरता है? मेघ मुनि, संयमी कष्टों के पहाड़ सिरपर गिर पड़ने पर भी हताश नहीं होता। कष्टों का स्वागत करना संयमी क कर्त्तव्य है। क्या तुम्हें अपने पूर्व भव का स्मरण नहीं—जब दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए तुमने घोर कष्ट सहन किया था? उसी कष्टसहन के फल से इस जन्म में तुमने राजगृह के राजघराने में जन्म पाया है। विघ्नबाधाएँ तो मनुष्य की सामर्थ्य-परीक्षा की कसौटी हैं। उनसे घबड़ाना उचित नहीं। अतएव अपने पिछले भव के कर्मों का स्मरण करके सान्त्वना प्राप्त करो और हृदय को मज़बूत बनाओ। संयम की रक्षा

करो।"

मेघ मुनि ने कहा—"भगवन्, पूर्व जन्म में मैंने क्या किया था? अनुग्रह करके बताइए।"

भगवान्—सुनो। अब से तीसरे भव में तुम वैताढ्य पर्वत के समीप सात हाथ ऊँचे और नौ हाथ लम्बे सफेद वर्ण के हाथी थे। यूथ के तुम्हीं प्रधान थे। अनेक क्रीड़ाएँ करते हुए अपना समय व्यतीत कर रहे थे। एक दिन ग्रीष्मऋतु में कड़ी धूप पड़ रही थी। वृक्षों के परस्पर संघर्षण से प्रचण्ड दावानल उत्पन्न हो गई और सारे जंगल में फैल गई। मृग आदि छोटे-मोटे जीव उस आग में पड़कर भस्म होने लगे। पशुओं के करुण आक्रन्दन से सारा वन मानों मुखरित हो उठा। इस भयावह परिस्थिति में तुम (हाथी के जीव) अपने प्राण बचाने के लिए भागे। भागने से बहुत कष्ट हुआ। उसी समय प्यास ने बुरी तरह सताया। तुम पानी पीने के लिए कीचड़ से भरे हुए तालाब में घुसे। घुसते ही वहां दलदल में फँस गए। उसी समय एक दूसरा हाथी वहां आया। उस हाथी को एक बार तुमने अपने यूथ से बाहर निकाल दिया था। तुम्हें कीचड़ में फँसा देख उसे वैर के प्रतिशोध का विचार आया और उस ने अपने तीक्ष्ण दंतशूलों से तुम्हारी पीठ पर अनेक प्रहार किए। इससे तुम्हें असह्य वेदना होना स्वाभाविक ही था।

सात दिन तक उस यातना को भोग कर तुमने अपना वह जीवन समाप्त किया।

गंगा नदी के किनारे विन्ध्य पर्वत में तुम फिर हाथी रूप से जन्मे। कुछ समय के पश्चात् तुम उस जंगल के हाथियों के मुखिया बन गए। एक बार ग्रीष्मऋतु में दावाग्नि प्रज्वलित हुई। उसे देख कर तुम्हें अपने पूर्व भव का स्मरण हो आया। उस अग्निजन्य कष्ट की भी तुम्हें याद आ गई। तुमने सोचा—भविष्य में दावानल से बचने के लिए गंगा के दक्षिण किनारे पर वृक्ष लता आदि को छेदन कर एक मंडल बनाना चाहिए। ऐसा विचार कर तुमने और तुम्हारे यूथ के सभी हाथी और हथनियों ने वर्षाऋतु में मिलकर चार कोस की लम्बाई-चौड़ाई में, तमाम वृक्ष आदि को उखाड़ कर हटा दिया और साफ-सुथरा गोलाकार-मंडल बना डाला। कुछ दिनों बाद वर्षाऋतु से उगे हुए घास लता वृक्ष आदि को फिर उखाड़ कर फेंक दिया और वर्षा ऋतु की अन्तिम वृष्टि होने पर अनेक लताओं और वृक्षों को फिर तीसरी बार उखाड़ फेंका। इस प्रकार एक साफ-सुथरा मंडल बन गया।

वर्षा ऋतु बीत गई। क्रमशः फिर ग्रीष्म का आगमन हुआ। सूर्य के प्रचण्ड आतप से और गर्म हवा के योग से वृक्षों में रगड़ हुई और फिर वही दावानल सुलग उठी।

अब की बार तुम अपने यूथ को साथ लेकर अपने मंडल में आ गए। तुम्हारे आने से पहले ही 'मांडले' में अपने प्राणों की रक्षा के लिए बहुत से शृगाल, शशक, हिरन आदि जानवर आ घुसे थे। उस समय एक शशक, जिसे स्थान न मिला था, स्थान की खोज में था। उसी समय अपना शरीर खुजाने के लिए तुमने अपना पैर ऊपर उठाया और उस जगह वह खरगोश बैठ गया। शरीर खुजाकर तुम अपना पैर नीचे रखने लगे तो वहां खरगोश बैठा मिला। उस समय तुम्हारे अन्तःकरण में एक प्रकार की आर्द्रता आ गई—प्राणी मात्र के प्रति करुणा उमड़ पड़ी। जीवानुकम्पा की पुण्य भावना तुम्हारे हृदय में जागृत हुई और खरगोश की रक्षा के अभिप्राय से तुमने अपना पैर जमीन पर न टेककर अधर ही उठाए रखा। इस अनुकम्पा के माहात्म्य से उसी समय तुम्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई और तुम्हारा संसार निकट आ गया।

शम, संवेग, निर्वेद, आस्था और अनुकम्पा, सम्यक्त्व के लक्षण हैं। इनमें से अनुकम्पा प्रधान लक्षण है। जहां प्राणी मात्र के लिए पूर्ण अनुकम्पा जागृत होती है वहां जीव को सम्यक्त्व-प्राप्ति हो जाती है।

सजातीय के प्रति उदारता बताने, उस पर अनुकम्पा करने की अपेक्षा विजातीय पर अनुकम्पा बताने में विशे-

राजगृह ( बिहार ) के सम्राट श्रेणिक के सुपुत्र श्री मेघकुमार ने अपने पूर्वभव हाथी के जन्म में, भीषण दावानलके समय खरगोश की प्राण-रक्षा के लिए अपने पैरको तीन दिन तक भूमिपर न टिका [illegible]

पता है। मगर जो विजातीय पर दया-दृष्टि रखता है वह सजातीयों पर अवश्यमेव रखेगा ही; क्योंकि दया आदि गुणों का विकास क्रम से होता है। वह कुछ बढ़कर सजातीय तक फैलते हैं; फिर अधिक विकसित होकर विजातीय तक पहुँचते हैं।

दया की यह भावना प्राणी की स्वाभाविक भावना है। पशुओं में भी वह पाई जाती है। ऐसी हालत में विशिष्ट विवेकशाली मानव यदि प्राणी मात्र पर अनुकंपा न करे तो समझना चाहिए कि उसमें असली मनुष्यता आना शेष है। मनुष्य का परम कर्त्तव्य है कि वह पशु-पक्षियों तक पर दया का भाव रखे। उनके प्राणों की रक्षा के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करे। परन्तु ऐसा करने में कभी विवेक को न त्यागे। विवेकहीन क्रिया से लाभ के बदले कभी-कभी हानि हो जाती है। एक ओर एकेन्द्रिय की रक्षा करने के निमित्त वनस्पतिकाय का परित्याग करे और दूसरी ओर दुकान पर बैठकर झूठा बही-खाता लिखे, अन्याय और कपट करे तो समझना चाहिए कि उसमें वास्तविक धर्म को समझने की शक्ति अभी उत्पन्न ही नहीं हुई है। जो जैन झूठी साक्षी देता है, कन्या को बेचता है, किसी की आजीविका का विच्छेद कराता है वह सच्चा और पूरा जैन नहीं कहला सकता। वह जैनधर्म को लजाता है।

यह दावानल अढ़ाई दिन तक प्रचंड रूप से धधकता रहा। जब सारा जंगल भस्म हो गया और दावानल का नाम मिट गया तो उस मांडले के सभी प्राणी निर्भय हुए और भूख से व्याकुल होकर आहार की खोज में निकले। उस समय तुमने अपना पैर जमीन पर रखने के लिए नीचा किया। तुम अढ़ाई दिन तक आहार न मिलने से निर्बल हो गए थे और पैर ऊपर रखने से वह अकड़ गया था। अतएव जमीन पर पैर रखते ही तुम धड़ाम से गिर पड़े! तुममें उठने का सामर्थ्य न रहा। इस प्रकार तीन दिन तक निराहार रहकर तुम काल को प्राप्त हुए और महाराज श्रेणिक के पुत्र हुए। अब संसार से विरक्त होकर तुमने दीक्षा धारण की है।

जो लोग प्राणी की रक्षा को पाप बतलाते हैं उन्हें इस उदाहरण पर निर्मल अन्तःकरण से विचार करना चाहिए। खरगोश की रक्षा करने से यदि हाथी को पाप लगा होता तो वह नरक में न जाकर सम्यक्त्वरत्न, मनुष्यभव, राजकुल और ऐसा धार्मिक संयोग, जो अतीव पुण्य से प्राप्त हो सकता है, कभी प्राप्त कर सकता था?

भगवान् बोले—हे मेघ, तुमने हाथी के भव में इतना कष्ट सहन किया था और आज मुनियों के थोड़े संघट्टन मात्र से इतने व्याकुल हो गये हो! तुम इतना भी कष्ट न सह सके, यह तुम्हारे जैसे राजवंशीय संयमी के लिए कितनी

लज्जा की बात है ?

भगवान् के इस प्रतिबोध को सुनकर मेघमुनि का हृदय आत्मग्लानि से भर गया। उसी समय उन्हें अपने पूर्व भव का स्मरण हो आया और अनुकंपा-भाव से उनका हृदय परिपूर्ण हो गया। उन्हों प्रसन्नता के साथ भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर कहा—प्रभो, मैं वास्तव में ही बड़ा अज्ञानी था कि संयम रूपी महान् उच्च गिरिशृंग पर आरूढ़ होकर जरा से कष्ट के कारण नीचे गिरना चाहता था। देव, आपने मेरे भीतरी नयन खोल दिये हैं, असीम उपकार किया है। आज से मेरा यह अकिंचन शरीर मुनिराजों की सेवा में समर्पित है। यावज्जीवन कभी उनके कार्य से मुँह न मोड़ूंगा। मैं सब प्रकार की कठिनाइयाँ और असुविधाएँ सहन कर के भी अपने इस संकल्प से विमुख न होऊंगा। इस प्रकार दृढ संकल्प करके मेघ मुनि संयम में सावधान हो विचरने लगे।

कर्म की शक्ति बड़ी जबर्दस्त है। बड़े-बड़े योगी भी कभी-कभी कर्म के जाल में फँस जाते हैं। इसीलिए गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु, अपने शिष्यों की निर्बलताओं को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, धर्म के मार्ग में आगे बढाते हैं और कभी मेघमुनि के समान जो विचलित हो उठते हैं उन्हें धर्म के पथ में पुनः दृढ़ करते हैं। गुरु मार्गदर्शक हैं,

साधक के सहारे हैं, उनके बिना सन्मार्ग से भ्रष्ट होने की बहुत संभावना रहती है और भ्रष्ट होने पर पुनः उसी पर आजाना बड़ा कठिन काम है। मगर गुरु में क्या योग्यताएँ होनी चाहिएँ, इस संबंध में उल्लेख करने से विस्तार अधिक होगा और वह अप्रासंगिक ज्ञात होगा। फिर भी इतना कह देना आवश्यक है कि गुरु निष्पक्ष, निष्परिग्रह, निर्लोभ, देश-काल-भाव का ज्ञाता, सत्यदर्शी और सदाचारपरायण होना चाहिए। आजकल कई प्रकार के वेष धारण करके भांग, गांजे और सुलफे के भक्त सर्वत्र मिलते हैं। उनमें वास्तविक गुरुत्व नहीं है।

मेघ मुनि अपने परम गुरु श्रमण भगवान् के प्रतिबोध से प्रतिबुद्ध हो गये। धन्य है मेघमुनि का वह संकल्प, जिस में परोपकार और सेवा की भावना भरी हुई है। शरीर अशुचि और अशाश्वत है। यदि उसे सेवा में लगाया जाय तो वह सार्थक हो जाता है। अन्यथा उसकी प्राप्ति होना न होने के ही समान है। अतएव प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह धर्मसेवा तथा विश्व एवं राष्ट्र के उद्धार में अपने शरीर का उत्सर्ग कर दे।

मेघ मुनि साधुसंघ की सर्व प्रकार की सेवा-भक्ति करते हुए अपना संयत-जीवन व्यतीत करने लगे। वह अपना सारा समय सेवा और ज्ञान के अभ्यास में लगाते थे। इस

प्रकार क्रमशः अपने ज्ञान की वृद्धि करते-करते वे ग्यारह अंग के पाठी हो गए और उपवास से लेकर छह मास तक की कठिन तपस्या करने लगे। यों दोनों का मेघ मुनि में सुंदर समन्वय हो गया; ज्ञान और चारित्र दोनों की ही उन्होंने आराधना की। मानों सोने में सुगंध हो गई!

वास्तव में ज्ञान और चारित्र दोनों मिलकर ही मुक्ति के कारण होते हैं। सम्यग्ज्ञान के विना जो आचरण किया जाता है उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि अज्ञानी की क्रिया संसार का कारण होती है। तथा अकेले ज्ञान मात्र से भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। 'हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।' अर्थात् क्रियाहीन ज्ञान निष्फल है और अज्ञानी की क्रिया निष्फल है। जहां दोनों समान रूप में विद्यमान होते हैं वहां आत्मकल्याण का मार्ग साफ़ हो जाता है। ज्ञानपूर्वक किया हुआ तप आत्मा को उन्नत बनाता है और कर्मों के नाश में सहायक होता है। ज्ञान-सहित तप करने वाला साधु सांसारिक यश और बाह्य आडम्बर की स्वप्न में भी कामना नहीं करता। वह सांसारिक भोगोपभोग की भी चाहना नहीं करता। वास्तव में सज्ञान तप ही श्रेयस्कर अतएव आराध्य है।

भगवान् महावीर राजगृह से विहार कर अनेक देशों में विचरते हुए अपने सुधोपम शीतल उपदेश से प्राणियों

के बाह्याभ्यन्तर संताप को हटाने लगे। एक बार मेघमुनि ने भगवान् के समीप उपस्थित होकर उन्हें यथोचित् वन्दना कर भिक्षु की पडिमा ( प्रतिमा ) करने की आज्ञा मांगी। भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने पडिमाओं का सूत्रविधि से अनुष्ठान किया। फिर भगवान से गुणरत्न संवत्सर करने की आज्ञा मांगी। प्रभु ने मेघमुनि की बढ़ती हुई शक्ति का अनुभव किया और कहा—"हे भिक्षो! जिस कार्य से आत्मा को सच्चा सुख मिले उस कार्य के करने में विलम्ब न करना चाहिए। तुम आत्मसुखाभिलाषी हो। मेरी आज्ञा है—तुम आत्मकल्याण करो"

प्रभु की आज्ञा प्राप्त कर मेघमुनि एक मास तक एक दिन भोजन और एक दिन उपवास करने लगे। वह दिन में सूर्य के सन्मुख आतापन योग और वीरासन योग धारण करते थे। इस प्रकार एक मास पूर्ण हो गया। दूसरे महीने एक दिन भोजन और दो दिन उपवास धारण कर रहने लगे। इसी प्रकार तीसरे मास तीन उपवासों के पश्चात्, चौथे महीने चार उपवासों के बाद, भोजन करने के क्रम से बढ़ते-बढ़ते उन्होंने सोलहवें दिन बाद पारणा किया। इस भांति गुणरत्न संवत्सर तप करके उन्होंने और भी बहुत-सी दुर्द्धर तपस्या की और कर्मों को एकदम निर्बल बना डाला।

तप, कर्म रूपी इंधन को जलाने में प्रचण्ड अग्नि के

समान है। तप के द्वारा कर्म नष्ट होकर मुक्ति प्राप्त होती है। अनेक जन्मों में किये हुए घोर पाप भी तप की तीव्र ज्वाला में जलकर भस्म हो जाते हैं। तप से आत्मा शुद्ध होता है, सांसारिक वासनाएँ और कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

तपश्चरण से आत्मिक लाभ के अतिरिक्त अनेक प्रकार के शारीरिक लाभ भी होते हैं। जीवन को भार बना देने वाली अनेक भयंकर व्याधियाँ उपवास-द्वारा नष्ट हो जाती हैं। उपवास से उदर के अन्दर जमा हुआ मल साफ होता है और जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है। शरीर शुद्ध होता है और नवीन रक्त एवं वीर्य की वृद्धि होती है। आयुर्वेद में उपवास का बड़ा माहात्म्य वर्णित है। अमेरिका के डाक्टरों ने 'उपवास-चिकित्सा' की प्रतिष्ठा की है। 'तपसा क्षीयते व्याधिः' अर्थात तप से शारीरिक रोग नष्ट होते हैं। जो रोग अनेक औषधियों का सेवन करने से भी दूर नहीं होते उनमें उपवास ही कारगर होता है।

इस प्रकार तप शारीरिक व्याधियों को दूर कर शरीर को शुद्ध—नीरोग बनाता है और आत्मिक शुद्धि में भी कारण होता है। अनेक लोग पानी-द्वारा शारीरिक मल दूर करते हैं और अग्नि एवं सुहागे से सुवर्ण के मल को हटा देते हैं; पर आत्मा का मैल तीव्र तपश्चर्या किये बिना नहीं धुल सकता। इसलिए जैन सिद्धान्त में विविध तपस्याओं का उल्लेख

किया गया है।

इस प्रकार कठिन तपश्चरण करते हुए उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। शरीर के अत्यन्त कृश हो जाने पर उन्होंने समाधिमरण धारण करने का विचार किया। भगवान् से आज्ञा प्राप्त कर समस्त मुनियों के समक्ष उपस्थित होकर उनसे क्षमा-याचना की।

यद्यपि साधु-मुनिराज किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष का भाव नहीं रखते, किसी से लड़ाई-झगड़ा नहीं करते, सदैव समता और शान्ति में विचरने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने पर भी कभी कषाय प्रकृति के उदय से प्रवृत्ति में दूषिता आ गई हो तो उसके लिए क्षमायाचना करना साधु का कर्त्तव्य है। भगवान् ने फरमाया है कि क्षमायाचना करने में हाथ की रेखा सूखने तक का भी विलम्ब न करना चाहिए। जो साधु एक पक्ष तक क्षमायाचना नहीं करता उसकी साधुवृत्ति नष्ट हो जाती है, चातुर्मास तक क्षमायाचना नहीं करने से श्रावकपन चला जाता है और संवत्सर तक क्षमायाचना न करने से सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाता है। क्योंकि संज्वलन क्रोध की स्थिति १५ दिन की, प्रत्याख्यानी क्रोध की ४ मास की और अप्रत्याख्यानी क्रोध की स्थिति एक वर्ष की है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध सम्यक्त्व का उदय नहीं होने देता, अप्रत्याख्यानावरण का क्रोध श्रावक विरति नहीं होने

देता और प्रत्याख्यानावरण का क्रोध साधुत्व में बाधक होता है। संज्वलनक्रोध यथाख्यात चारित्र का प्रतिबन्ध करता है।

मुनि मेघकुमार क्रोध की भयंकरता को भलीभांति जानते थे; अतएव उन्होंने मुनियों से क्षमा-याचना की। यद्यपि उनके मन में किसी के प्रति राग-द्वेष का भाव उत्पन्न न हुआ था, तथापि सम्भव है, बिना उपयोग ही अव्यक्त रूप में किसी के प्रति कोई अनुचित व्यवहार हो गया हो, यह सोचकर मेघमुनि ने क्षमायाचना कर लेना अपना कर्त्तव्य समझा। क्षमायाचना करने के बाद कुछ ऐसे मुनियों को, जिन्होंने समाधि पूरी न होने तक भोजन-परित्याग की प्रतिज्ञा की थी, अपने साथ लेकर वे विपुलाचल पर्वत पर पहुँचे और एक शिला पर घास आदि का बिछौना बिछाकर 'नमोत्थुणं' से सिद्ध एवं तीर्थंकरों की स्तुति कर अपने व्रतों की आलोचना करने लगे। स्वीकार किये हुए व्रतों, नियमों या प्रतिज्ञाओं में किसी प्रकार का दोष तो नहीं लग गया है, इस बात पर वे सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने लगे। तत्पश्चात् ग्रहण किये हुए व्रत का पुनरुच्चारण करके उन्होंने जीवनपर्यंत आहार-पानी के परित्याग कर देने की प्रतिज्ञा ग्रहण की।

आहार-पानी के परित्याग से कोई यह न समझे कि उन्होंने आत्महत्या करने का उपाय किया है।

ग्रैवेयक के ऊपर वाले विजय विमान में ३२ ( बत्तीस ) सागर की आयु वाले अहमिन्द्र हुए हैं। अपनी इस लंबी आयु को समाप्त करके वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और अन्त में समस्त कर्मों का नाश कर सिद्ध बुद्ध और मुक्त होंगे।

जिसमें सदा बीस तीर्थंकर विराजमान रहते हैं वह महाविदेह तो है ही। उसके अतिरिक्त महा-महान्, विदेह-शरीर में रहते हुए भी देह की ममता न रखने वाला, संकुचित भावना का परित्याग कर विश्व को अपना बन्धु समझने वाला एवं तप, क्षमा निष्कपटता आदि गुणों से आत्मा को बढ़ा लेने वाला भी महाविदेहवास है और इससे मुक्ति की प्राप्ति होती है।

आजकल अज्ञान के कारण कुछ लोगों ने इस महान् आत्मधर्म को संकुचित और जातीय धर्म बना डाला है। दूसरी जनता को धर्म प्रतिपालन करने के लिए किसी प्रकार की सुविधा नहीं रह गई है। विशाल धर्म आज संकुचित होते-होते इतना संकीर्ण हो गया है कि वह थोड़े से लोगों की सम्पत्ति बन गया है। इस समय विज्ञान की प्रतिष्ठा बढ़ रही है और जैन धर्म वैज्ञानिक है। इसलिए उसके विस्तार के लिए यह युग बहुत अनुकूल है। पर इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता और पारस्परिक संघर्ष में ही समस्त शक्ति व्यय की जाती है। यह अनुचित है। सत्य

धर्म के लिए जाति और वर्ण का बंधन नहीं होता। वह प्राणी मात्र का धर्म है और उसे धारण करने वाला प्रत्येक पुरुष परस्पर साधर्मी बन्धु कहलाता है। उनमें पर्याप्त प्रेम और संबंध होना चाहिये।

## उपसंहार

मेघ मुनि की संयम धर्म से डिगती हुई आत्मा को, भगवान् महावीर ने मधुर शब्दों द्वारा योग्य उपदेश देकर पुनः आत्मधर्म में निश्चल बनाया। मेघमुनि ने ज्ञान और क्रिया की यथाशक्ति आराधना की और उसके फलस्वरूप वे मुक्ति प्राप्त करेंगे।

इसी प्रकार प्रत्येक मुनि और गृहस्थ का परम कर्त्तव्य है कि कोई साधु-संयमी किसी प्रकार की असमर्थता या अज्ञानता के कारण धर्मपथ से विचलित हो रहा हो तो उसके दोषों पर ध्यान देकर उसे पुनः संयम मार्ग में स्थिर करने का प्रयास करें। स्व और पर के कल्याण का यही उत्तम उपाय है, इसी से संघ और धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ती है। इसके अतिरिक्त सब साधुओं को चाहिए कि वे परोपकार, सेवा और सरलता को अपना सहचर बनाएँ और विघ्नों का धीरज के साथ सामना करते हुए अपने सुदूर और चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते चलें। मानव-जीवन की सफलता की यही

गया है; अतः नये सिरे से तैयारी करने के लिए सशक्त शरीर चाहिए। सशक्त शरीर तभी प्राप्त हो सकता है जब पुराना शरीर हट जाय। मृत्यु द्वारा ही पुराना शरीर हटता है; अतएव मृत्यु से भयभीत क्यों होना चाहिए? जैसे बालकपर्याय मिटने से युवापर्याय का प्रादुर्भाव होता है, उसमें शोक का कोई कारण नहीं; इसी प्रकार एक पर्याय को त्यागकर दूसरी पर्याय को धारण करना मृत्यु है, उसमें शोक के लिए स्थान ही नहीं है। यह तो एक प्रकार की लम्बी यात्रा है और ऐसी यात्रा जिससे घबड़ाने की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार की विचारधारा ही सत्य और शान्तिप्रद है। इसके विपरीत लोक में जो प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है वह अकल्याणकारी है। माथा मारने और छाती कूटने से भी मृतात्मा वापस नहीं लौट सकता, तब फिर रो-पीट कर, आर्तध्यान करके नये अशुभ कर्मों का बन्ध करने से क्या लाभ है? भव्य और विवेकी जीवों का यह कर्त्तव्य है कि वे किसी प्रिय जन का वियोग होने पर धैर्य धारण करें तथा शान्ति और संतोष के साथ धर्मकार्य में लीन रहें। संसार की अनित्यता और जीवन की क्षणभगुरता का विचार करें और आत्मा की नित्यता की पुनः पुनः भावना करें।

साथ वाले मुनिराज, मेघमुनि के शरीर को वोसराकर उनके भंडोपकरण लिए हुए भगवान् के समीप आये और

वन्दना-नमस्कार करके बोले—"प्रभो! आपके शिष्य मेघ मुनि अतीव भद्र और विनीत प्रकृति के थे।"

संयमी साधु प्रायः निष्कपट और भद्रस्वभावी होते हैं। जो साधु कपटाचार करता है या वक्रता धारण करता है वह साधुवृत्ति में कलंक लगाकर दुर्गति का पात्र बनता है। साधु का जीवन सरलता और शान्ति से परिपूर्ण होना चाहिए। शत्रु और मित्र पर उनका समान भाव होना चाहिए। वन में या सजन भवन में एक-सा उनका आचार होना चाहिए। सच्चा मुनि अपने भक्त के सामने जो कुछ कहेगा वही अपने ऊपर द्वेष रखने वाले विद्वेषी के सामने भी कहेगा। उनके कहने और करने में किसी प्रकार का भेदभाव न होगा। मन में और, वचन में और तथा करें कुछ और; यह मायाचार उनके पास तक नहीं फटक सकता। जो विवेकहीन साधु और श्रावक इस प्रकार का व्यवहार करते हैं वे अविश्वासपात्र बनकर अपने संयम को कलंकित करते हैं। अस्तु।

उन मुनियों ने पूछा—"देवाधिदेव! भद्र और विनीत मेघ मुनि ने संथारा लेकर शान्ति और समाधिपूर्वक अपना आयुष्य पूर्ण किया है। प्रभो! यह उनके भंडोपकरण हैं।"

उसी समय गौतम स्वामी ने पूछा—"भगवन्! मेघ मुनि आयुष्य समाप्त कर किस जगह उत्पन्न हुए हैं?"

भगवान्—हे गौतम! मेघमुनि देवलोक तथा नव-

यह आत्महत्या नहीं, बल्कि शरीर को बुद्धिमत्तापूर्वक त्याग देने की सुंदर कला है। आत्महत्या और समाधि-मरण में उतना ही अन्तर है जितना अमृत और विष में है। आत्महत्या किसी कषाय के अत्यत उद्रेक से ही की जाती है; परन्तु समाधिमरण में कषाय का अत्यंत त्याग होता है। शरीर जब धर्म-साधन के योग्य नहीं रहता, बल्कि धर्माराधन में बाधा पहुँचाने लगता है तब वीतराग योगी शरीर के पोषण को धर्म का कारण न समझकर—निरुपयोगी मान कर शरीर के प्रति उदासीन हो जाते हैं और आत्मा के स्वच्छ स्वरूप में ही तन्मय हो रहते हैं। उनमें न जीवन की आकांक्षा होती है, न मृत्यु की कामना। आत्महत्या मृत्यु की कामना से ही होती है। पर समाधिमरण इस कामना को त्याग देने पर ही हो सकता है। अतएव समाधि-मरण जीवन का सर्वोत्कृष्ट और वीरतापूर्ण त्याग है और मृत्यु कायरतापूर्ण त्याग है। इस प्रकार आत्महत्या और समाधि-मरण एक दूसरे से विपरीत हैं। इनमें समानता नहीं हो सकती। अस्तु।

मेघ मुनि आहार और जल का त्याग करने के पश्चात् उस शैया पर एक करवट से लेट गए और जिस करवट से लेटे थे उसीसे जीवनपर्यन्त लेटे रहने की उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली। संस्थ आये हुए मुनि उनकी वैयावच्च में तन-मन से रत

रहने लगे। मेघ मुनि की भद्र भावना के कारण उन्हें सेवा-शुश्रूषा में किसी प्रकार की कठिनाई या श्रम उठाने का अवसर ही न आया।

मुनिराज मेघ ने इस भांति एक मास पर्यंत समाधि में मग्न रहते हुए अतीव निर्मल परिणामों के साथ आयुष्य समाप्त किया। आयु समाप्त होने के समय उनके परिणाम बहुत शान्त, भद्र और विनम्र थे। मेघमुनि का आयुष्य समाप्त हो जाने पर साथ वाले मुनियों ने प्रभु की स्तुति की। उन्होंने किसी प्रकार का शोक, विलाप, खेद या पश्चात्ताप न किया। शोक आदि करने से अशुभ कर्म का बन्ध होता है, फिर साधु के लिए तो ममता रखना शास्त्रविरुद्ध है।

और यों देखा जाय तो मृत्यु दुखदायी वस्तु नहीं है। योगी जन उसे बिलकुल अप्रिय नहीं समझते। वे तो इस प्रकार विचार करते हैं:—जन्म से लेकर अब तक मैं इस मलमूत्र से भरे हुए टोकरे में सड़ रहा हूँ, आयुकर्म ने मुझे इसमें कैद कर लिया है, मुझे मृत्यु रूपी राजा ही इससे छुड़ा सकता है। मैंने जीवन पर्यन्त जो कठोर साधना की है, विविध प्रकार का तपश्चरण किया है, उसका फल जिसके आने पर ही मिल सकता है उस मृत्यु से क्यों भयभीत होना चाहिए? आत्मा अजर है, अमर है, उसका कभी विनाश नहीं होता। शरीर गल गया है, यह अब धर्माराधन के अयोग्य हो

कुंजी है। सत्य धर्म की प्रतिष्ठा और मर्यादा की भी इसी प्रकार रक्षा हो सकती है।

मेघकुमार ने अन्त में जो महान् उत्कर्ष प्राप्त किया उसका आरम्भ वस्तुतः अनुकम्पा भावना से होता है। खरगोश की अनुकम्पा रूपी बीज ने क्रमशः विकसित होते-होते एक विशाल वृक्ष का रूप धारण किया। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अनुकम्पा सिद्धि की प्राप्ति का कारण है; परन्तु खेद है कि मिथ्यात्व मोहनीय के उदय के कारण जैन धर्मानुयायियों में ही एक ऐसा दल उत्पन्न हो गया है जो जैन धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों की निर्दयतापूर्वक हत्या करके, मनुष्य की मनुष्यता को भी दूर करने का प्रयत्न करता है और साथ ही जैन धर्म को लजाता है।

महामुनि मेघकुमार किस प्रकार अनुकंपा की सीढ़ी द्वारा अपने जीवन को चरम विकास के पथ पर लगा सके, यह इस शास्त्र में सुस्पष्ट कर दिया गया है। भव्य जीव, आत्मकल्याण के हेतु इस प्रकार विचार करें और अनुकम्पा भाव को मेघकुमार के समान बढ़ाकर मुक्ति प्राप्त करें।

---

# दूसरा अध्याय

गभग २००० वर्ष पहले की बात है। उस समय राजगृही नगरी मगध देश की प्रसिद्ध राजधानी थी। महाराज श्रेणिक और उनके पुत्र कुणिक के राज्यकाल में राजगृही अपने पूर्ण यौवन में थी। वह बहुत विशाल, रमणीय, संपन्न और ऐश्वर्य से परिपूर्ण थी। इस महान् नगरी का सौभाग्य भी महान् था; क्योंकि महावीर प्रभु ने सोलह चातुर्मास इसमें व्यतीत किये थे।

राजगृही के बाहर उत्तर दिशा में एक गुणशील नामक सुन्दर और रमणीय उद्यान था। इस उद्यान के समीप ही एक पुराना और उजड़ा हुआ उद्यान था। किसी समय वह भी बड़ा रमणीय रहा होगा; परन्तु अब वह बड़े-बड़े घने पेड़ों से अत्यन्त भयंकर जान पड़ता था। ठीक ही है, संसार

का प्रत्येक पदार्थ प्रतिपल परिणयन करता रहता है और थोड़े ही दिनों में और का और हो जाता है। बड़े-बड़े विशाल नगर ऊजड़ हो जाते हैं और ऊजड़ में सुंदर नगर का निर्माण हो जाता है। यही क्यों, प्रातःकाल जो सम्राट् था, सिंहासन पर बैठा था वही शाम को दर-दर का भिखारी बन जाता है। एक घड़ी पहले जहां महोत्सव मनाया जा रहा था वहीं अब हाय-हाय मच जाती है। संसार में यह विषमता सर्वत्र व्याप्त है। यहां कोई स्थिर नहीं, सब चला-चली में हैं। यही कारण है कि भव्य जन प्राप्त हुए अस्थायी सुखों को लात मारकर शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं।

उस उजड़े उद्यान में एक टूटा-फूटा देवालय था। वह उद्यान अनेक वृक्षों एवं लताओं से ढँका हुआ सा था। अनेक सर्प आदि जीव-जंतुओं ने उसे अपना स्थान बना लिया था। देवालय के समीप ही एक पुराना कूप था। उस कूप के पास मालुक नामक एक कच्छ था जो बाहर सँकड़ा और भीतर से विस्तृत और गंभीर था।

इसी राजगृही नगरी में धन्ना नामक एक सार्थवाह रहता था। वह अपरिमित धन और ऐश्वर्य से संपन्न एक प्रतिष्ठित सेठ था। उसका घर कुटुम्बी-जनों से परिपूर्ण था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। भद्रा 'यथा नाम तथा गुणा'

की उक्ति के अनुसार बड़े ही भद्र स्वभाव की महिला थी। वह सुन्दरी, सुकोमला, शुभलक्षणा और मृदुभाषिणी थी। नवयौवन से भूषित, कमनीय कान्ति वाली वह रमणी-मणि अपने पति की सेवा में सदैव तत्पर रहती थी। पति का विशुद्ध प्रेम उसे पूर्ण रूप में प्राप्त था।

संसार में कभी किसी को संतोष नहीं होता। बहुत कुछ होने पर भी किसी न किसी वस्तु का अभाव मनुष्य को व्याकुल बनाये रखता है। धनवान् को जनाभाव और जनवान् को धनाभाव पीड़ा पहुँचाता है। कोई भी व्यक्ति अपनी स्थिति में सुख का अनुभव नहीं करता। वह सदा 'कुछ और' चाहता रहता है। यह संभव नहीं कि संसार में किसी की सब कामनाएँ पूर्ण हो सकें। प्रथम तो ऐसा हो ही नहीं सकता; तिस पर कामनाओं का कहीं अन्त भी नहीं आता। इसीलिए तत्त्वज्ञानी पुरुष संसार को दुःखमय कहते हैं, उसे त्याग देने की प्रेरणा करते हैं। धन्ना सार्थवाह के पास अपरिमित धनराशि थी। उसके ऐश्वर्य का ठिकाना न था। परिवार भी पर्याप्त था, फिर भी एक अभाव उसे सदा चिन्तित बनाए रखता था। उसके पुत्र न था और इसीसे उसे आमोद-प्रमोद की सब सामग्री फीकी जान पड़ती थी।

धन्ना सार्थवाह के यहां एक नौकर था। उसका नाम पंथक था। पंथक सुडौल, सुन्दर, कांतिवान् और बच्चों

को खेलाने में बहुत चतुर था। वह बच्चों को ऐसे खेल खेलाता था जिनसे बच्चों का मनोरंजन हो तथा उनके शरीर और बुद्धि का विकास हो। वास्तव में बच्चों को ठीक तरह खेलाना साधारण बात नहीं है। बच्चों का मस्तिष्क बहुत ही ग्राही होता है। वे अपने आसपास की बातें शीघ्र ही ग्रहण कर लेते हैं। हृदय उनका ऐसा कोमल होता है कि तत्काल वे प्रत्येक बात से प्रभावित हो जाते हैं। जो कुछ बड़े लोग उनके सामने करते या कहते हैं उसी से उनके संस्कार बनते हैं और उन्हीं संस्कारों के आधार पर उनके जीवन का निर्माण होता है। अतएव जो लोग बच्चे को सदाचारी, नीतिपरायण और धर्मप्रेमी बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे विवेकहीन, दुराचारी, अधार्मिक और नीतिभ्रष्ट नौकर-चाकरों के संसर्ग से उनकी रक्षा करें। जो लोग अपने कार्यों में सतत व्यग्र रहते हैं और बालकों को नौकर-चाकरों एवं पड़ौस के जैसे-तैसे बालकों के पास खेलने छोड़ जाते हैं, उनके चरित्रगठन पर बारीक दृष्टि नहीं रखते, उनके बालकों का भविष्य मंगलमय नहीं बनता। अतएव बालकों को खेलाने वाले नौकरों को आचार आदि की कसौटी पर भली भांति कस कर ही उनके हाथों में अपने बालक को सौंपना चाहिए। पंथक ऐसा ही बुद्धिमान् नौकर था।

धन्ना सार्थवाह गंभीर, अनुभवी और विवेकी था। अतएव उनके मित्र, स्नेही, कुटुम्बी-जन आदि प्रत्येक कार्य में उसकी सम्मति लेते थे। उनकी सम्मति से किया हुआ कार्य सफल होता था। इसके अतिरिक्त नगर में अनेक कलाभवन और उद्योगशालाएँ थीं जिनके कार्यकर्त्ता भी समय-समय उनसे परामर्श करते थे। इस प्रकार धन्ना सार्थवाह नगर में सब के प्रिय और प्रतिष्ठित पुरुष थे।

राजगृही नगरी के बाहर विजय नामक एक प्रसिद्ध चोर रहता था। वह चोरी-सम्बन्धी भयंकर कार्यों में अत्यंत ही निपुण, निर्भीक और साहसी था। कठिन से कठिन और भयानक से भयानक कार्य करने में वह जरा भी नहीं हिचकता था। उसका चेहरा क्रोध के कारण सदा भयानक बना रहता था। आंखों से क्रोध की चिनगारियां निकला करती थीं। लाल-लाल आंखें और लम्बी दाढ़ी बड़ी डरावनी थी। बड़े-बड़े दांत ओठों से बाहर निकले रहते थे। सिंह के समान उसके लम्बे और सूखे बाल सदा मस्तक पर फैले रहते थे। भ्रमर या राहु के समान उसका एकदम काला रूप देखते ही कँपकँपी छूटती थी। वह क्रूरता का अवतार था। दया उससे कोसों दूर थी। रौद्र से रौद्र और भयंकर से भयंकर पापकर्म करके भी वह कदापि पश्चात्ताप नहीं करता था। घोर और जघन्य कृत्य करने वाला, दूसरों को सदा भय-

भीत बनाने वाला, निष्ठुरहृदय वह चोर अनेक अत्याचार और अनर्थ करने में जरा भी संकोच न करता था। वह सर्प के समान वक्रदृष्टि और द्रव्य हरण करने में तलवार की धार के समान तेज था। वह जिसका धन चुराना चाहता, अवश्य चुरा लेता था। धन का स्वामी कितना ही सतर्क और जागरूक क्यों न हो, उसके चंगुल में फँसे बिना नहीं रहता था। उसके आगे किसी की कुछ न चलती थी। जनता की दृष्टि में वह अग्नि की तरह भयंकर, घातक और दाहक था। उसका प्रलयकाल के समान कोप जिस पर टूट पड़ता उसका सर्वस्व नष्ट हुए बिना नहीं रह सकता था। शनिग्रह के समान उसकी क्रूर दृष्टि जिस पर पड़ जाती थी उसका सत्यानाश हुए बिना न रहता था। वह महा पापी, मद्य-मांसभक्षी, वेश्यागामी और हत्यारा था। अनेक गुप्त मार्गों का उसे पता था और बहुत-से टूटे-फूटे गुप्त मकानों को वह अच्छी तरह जानता था।

एक रात्रि में धन्ना सार्थवाह की पत्नी सुखशय्या पर शयन कर रही थी। तीसरे पहर अचानक उसकी निद्रा भंग हो गई। उसका बेचैन मन उसे उद्विग्न करने लगा और वह पुनः नींद लाने का प्रयास करने लगी। पर निद्रा न आई, न आई। उसी समय उसका मन पुत्राभाव की ओर आकृष्ट हुआ। वह सोचने लगी—धन्य है वह महिला, जिसकी गोद

में नवनीत-सुकुमार शिशु किलकता है, क्रीड़ा करता है और अपने निर्विकार बालसुलभ हावभाव से माता के नेत्रों को शीतल करता है। हाय! मैं कैसी अभागिनी हूं कि मेरे एक भी पुत्र नहीं है। क्या उपाय करूँ जिससे पुत्र का मुख देखकर मैं भी कृतार्थ हो सकूँ? इन भावों के आते ही वह बड़ी गंभीर चिन्ता में पड़ गई। विचार करते-करते उसके चेहरे पर अन्त में कुछ प्रसन्नता की झलक दिखाई दी, शायद उसने पुत्र-प्राप्ति का उपाय खोज निकाला है। उसे ध्यान आया, प्रातःकाल होते ही मैं पति की आज्ञा लेकर नाग भूत यक्ष के देवालय में जाकर उसकी पूजा करूँगी और उससे पुत्र की याचना करूंगी। आशा है, इस युक्ति से अवश्य ही मुझे पुत्र-प्राप्ति होगी।

प्रभात होते ही भद्रा ने स्नान किया और सुन्दर वस्त्राभूषण धारण कर पति की आज्ञा ले, पूजन की सामग्री सहित. अनेक सौभाग्यशालिनी स्त्रियों को साथ लेकर नगर से बाहर पुष्करिणी बावड़ी के किनारे पहुंची। वहां पत्र-पुष्प आदि रखकर 'कयबलिकम्मा' * अर्थात् स्नान करके गीले वस्त्र धारण कर नाग भूत यक्ष के मन्दिर में गई। यक्ष को

---

* कोई-कोई लोग इस शब्द का अर्थ 'देवपूजन करना' कहते हैं; पर यह अर्थ गलत है। इसका अर्थ स्नान करना या स्नान संबंधी क्रीड़ा करना ही उपयुक्त है।

उसने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और उसकी यथायोग्य पूजा की।

पूजा से निवृत्त होकर भद्रा पुनः पुष्करिणी बावड़ी पर आई और साथ की स्त्रियों के साथ भोजन करके घर लौट गई।

कुछ समय के पश्चात् वह गर्भवती हुई। यक्ष की पूजा के बाद वह गर्भवती हुई इससे महिलाएं यह न समझें कि यक्षपूजा से पुत्र-प्राप्ति होती है। यक्षमें यदि पुत्र दे सकने की सामर्थ्य होती तो संसार में कोई भी पुत्रहीन न होता। सब यक्ष की आराधना करके पुत्र प्राप्त कर लेते। वास्तव में पुत्र आदि की प्राप्ति पुण्य कर्म के उदय से ही होती है। पुण्य कर्म के बिना यक्ष आदि कुछ भी नहीं दे सकते। भद्रा सार्थ-वाही के पुण्य का उदय हुआ; अतएव उसे गर्भ रहा। यक्ष-पूजा से नहीं।

नव मास व्यतीत होने पर भद्रा के गर्भ से एक सुंदर पुत्र उत्पन्न हुआ। सेठ ने उसका नाम देवदत्त रक्खा। वह माता-पिता का अति प्यारा पुत्र था। वे उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे।

भृत्य पंथक देवदत्त को बहुत से बालक-बालिकाओं के साथ प्रतिदिन खेलाया करता था। तरह-तरह के खेल खेला कर, बच्चों में स्वयं बच्चा बनकर वह उसका मनोरंजन

करता और उसे सदा प्रसन्न रखता था।

एक दिन भद्रा ने देवदत्त को अच्छी तरह नहलाया-धुलाया और हीरा, पन्ना, मोती आदि के बहुमूल्य आभूषण पहनाए और प्यार से चूमकर खेलने भेज दिया। पंथक रोज खेलने की जगह ले गया और उसे एक स्थान पर बिठला कर आप अन्य बालकों के साथ खेलने लगा। उस समय मालुक कच्छ में रहने वाला विजय चोर चोरी करने के इरादे से नगर में घूम रहा था। उसने हीरे-पन्ने आदि से सजे हुए बालक को देखा तो उसका मन मुग्ध हो गया। कीमती आभूषणों पर उसका मन चल गया। उसने आभूषणों के साथ बालक को हरण करने का निश्चय किया। पंथक की आंख बचाकर उसने देवदत्त को अपनी बगल में दबाकर कपड़े से छिपा लिया और तेजी के साथ वहां से भागा।

गहनों की बदौलत नादान बच्चे की जान जोखिम में पड़ गई। इन्हीं के प्रताप से उसका अपहरण हुआ। बच्चों को गहना पहनाना उनके प्राणों को संकट में डालना है। आये दिन सैकड़ों बच्चे गहनों के कारण प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। गुंडे, चोर, बदमाश लोग हर समय ऐसे बच्चों की खोज में रहते हैं और जहां उन्हें गहने पहने कोई बच्चा नजर आया कि उस पर गीध की तरह झपटते हैं। कई

लोग बच्चों को किसी वस्तु का लोभ देकर उन्हें फुसलाकर ले जाते हैं और अनुकूल स्थान में उनके प्राण ले लेते हैं। वास्तव में गहनों में सुन्दरता देखना, दृष्टि का विकार है। बालक स्वभावतः मनोहर होता है। उसका असली सौन्दर्य गहना न पहनने में ही है। खेद है कि वासना का गुलाम बनकर मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य को बिगाड़कर विकृत सौन्दर्य की सृष्टि करता है और वह सौन्दर्य प्राणघातक सिद्ध होता है।

यही नहीं गहनों के कारण बालक बाह्य-दृष्टि बन जाता है। वह ऊपरी टीमटाम में ही रीझा रहता है। आन्तरिक सुन्दरता की ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाने पाती; अतएव प्रत्येक विवेकी माता-पिता का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी संतान को ऐसा बनाएँ जिससे वे बहिरात्मा न बनें, सद्गुणों को ही श्रेष्ठ गहना समझें।

चोर देवदत्त को लेकर टेढ़े मेढ़े चक्करदार रास्तों में होता हुआ उस सघन वन में भग्न कूप के पास पहुँचा। वहां देवदत्त को मारकर उसने गहने ले लिए और उसकी लाश कुएं में फेंक आप मालुका कच्छ में जा घुसा।

कुछ समय बाद जब पंथक का खेल पूरा हुआ तो वह देवदत्त को जहाँ छोड़ गया था वहाँ आया। पर देवदत्त को न देखकर बहुत घबराया; रोता-चिल्लाता हुआ

इधर-उधर खोजने लगा। सब जगह तलाश कर लेने पर भी देवदत्त का पता न चला तो अन्त में निराश हो धन्ना सार्थवाह—अपने स्वामी—के पास आया और रुवासा होकर बोला—"स्वामी, आज मैं देवदत्त को खेलाने ले गया था। पता नहीं वहाँ से कौन उसे हरण कर गया है ?"

पंथक के इन शब्दों से सार्थवाह के हृदय पर मानों वज्रपात हुआ। उसे मार्मिक चोट पहुँची। वह मूर्छित हो धड़ाम से धरती पर जा गिरा। शीतलोपचार से जब वह होश में लाया गया तो 'हाय मेरे लाल ! हाय मेरे प्राण-प्यारे बेटे ! हा ! मेरे हृदय के एक मात्र आधार ! कहाँ चले गये ?' आदि कह-कहकर विलाप करने लगा।

सांसारिक संयोग का फल वियोग है। जिससे जिसका संयोग हुआ है उसका उससे वियोग होना निश्चित है। संयोग और वियोग दोनों न होते तो संसार की व्यवस्था ही न जाने कैसे होती ! यह सब होते हुए भी मोह अपने प्रबलतर प्रहार से उचित-अनुचित के विवेक को नष्ट कर डालता है। मोही जीव इसी कारण वस्तु-तत्व के यथार्थ स्वरूप को हृदयंगम नहीं कर पाता। सचमुच मोह का माहात्म्य अपरिमित है। समस्त संसार में उसका साम्राज्य विस्तीर्ण है। कीट-पतंग से लेकर मनुष्य और देवता भी उसके जाल में फँसे हैं। यही मोह आत्मा को जन्म जरा

मरण आदि के भीषण दुःखों के सागर में पटकता है। अत-एव सच्चे सुख की अभिलाषा रखने वाले प्राणियों का कर्त्तव्य है कि वे मोह रूपी मल्ल को पछाड़ने का निरन्तर प्रयत्न करते रहें।

सार्थवाह मोह के वश होकर विलाप कर रहा था; पर विलाप से बिछुड़ा हुआ देवदत्त क्या पुनः मिल सकता था? अतः उसने अपने समस्त नौकर-चाकरों को पुत्र की खोज के लिए चारों ओर नगर में भेजा और स्वयं भी निकल पड़ा। नगर का कोना-कोना खोज डालने पर भी देवदत्त का कहीं पता न चला। अन्त में वह कुछ भेंट लेकर नगर के कोतवाल के पास आया और पुत्र-हरण का समाचार कह सुनाया।

कोतवाल शस्त्रों से सज्जित हो सेठ के साथ बालक की तलाश में निकला। खोजते-खोजते अन्त में वे उसी कूप के पास जा पहुँचे जिसमें देवदत्त का शव पड़ा था। कुएँ में झाँक कर देखने पर किसी बालक का शव तैरता दिखाई दिया। निकालने पर मालूम हुआ, यह देवदत्त का ही शव है। उस शव को देखते ही सेठ की जो दशा हुई वह शब्दों द्वारा चित्रित नहीं की जा सकती। उसकी मार्मिक व्यथा भुक्तभोगी ही अनुभव कर सकते हैं या सर्वज्ञ जान सकते हैं।

चतुर कोतवाल ने पैरों के चिह्न देखकर निश्चय किया कि चोर यहीं-कहीं छिपा होना चाहिए। पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए कोतवाल मालुक कच्छ के किनारे पहुँच गया। उसे विश्वास हो गया कि इसी कच्छ में चोर छिपा होगा। अतएव वह अपने शस्त्र सँभालकर बड़ी सावधानी के साथ कच्छ के भीतर घुसा। चोर पकड़ा गया और मजबूत बन्धनों से जकड़ दिया गया। बालक के गहने उसके पास ही थे। कोतवाल गहनों के साथ चोर को राजा के पास ले गया और बोला—"महाराज! अत्यंत क्रूर हत्यारा यह विजय चोर आज पकड़ा गया है। इसने जनता में हाहाकार मचा रखा है। इस पापी ने अनेक साहसपूर्ण चोरियां और हत्याएं की हैं। यह अत्यन्त निर्दय हत्यारा है। सेठ के पुत्र को भी इसी ने मारा है; अतः कृपा कर इसे उचित दंड दीजिए।"

राजा, विजय चोर की करतूतों से पहले ही परिचित था। कोतवाल की बात सुनकर उसने कहा—'कोतवाल, इसे मारते-पीटते हुए नगर भर में घुमाओ और फिर कारागार में डाल दो।'

चोरी और व्यभिचार आदि कुछ ऐसे कृत्य हैं जिनसे आत्मा का अधःपतन तो होता ही है, साथ में समाज की सुव्यवस्था भी नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। चोरी आदि कुकृत्य

करने वाले लोगों को यदि क्षण भर भी ऐसे कार्यों के लिए स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाय तो संसार में तहलका मच जाय। संसार में नरक की सी अशान्ति और पापों का दौर-दौरा हुए बिना न रहे। सबल, निर्बलों को निगल जावें और दुराचारी, सदाचारियों पर आपत्ति के पहाड़ पटकने लगें। भयंकर मारकाट से संसार रक्तरंजित हो जाय। पापों की इस भयंकर परम्परा को रोकने के लिए—समाज की शान्ति और सुव्यवस्था के लिए ही राज्यप्रणाली का आविर्भाव हुआ था। अतएव न्यायशील राजा का सर्व प्रथम कर्त्तव्य यही है कि वह अपने स्वार्थ को एक ओर रख कर प्रजा का पालन करे, अत्याचारियों से जनता की रक्षा करे और समाज में अमन चैन बनाये रहे। यह सब बातें दुर्जनों के निग्रह बिना असंभव हैं; अतः राजा उन्हें दंड देता है।

राज्यकर्मचारी चोर को मारते-पीटते नगर में घुमा रहे थे और चिल्ला-चिल्लाकर घोषणा करते जाते थे—जो पाप कर्म करता है उसे इस प्रकार राजदंड भुगतना पड़ता है। इस प्रकार नगर भर में घुमाकर उसे मजबूत हथकड़ी-बेड़ियों से जकड़कर जेलखाने में डाल दिया।

पुत्र की मृत्यु से यद्यपि धन्ना सार्थवाह को असीम शोक हुआ; पर कोई उपाय न था। अतएव उसने कर्म-फल का विचार कर किसी प्रकार संतोष धारण किया।

एक समय धन्ना सार्थवाह से राज्य का कोई साधारण अपराध हो गया। राजा ने उसे विजय चोर के साथ कारागार में डाल दिया और विजय चोर के पैर की बेड़ियों के साथ उसके भी पैर जकड़ दिये।

सेठानी भद्रा ने भोजन तैयार कर एक डिब्बे में बन्द कर दास के साथ सेठ के पास जेल में भेजा। सेठजी ने हाथ-मुँह धोकर भोजन थाली में रक्खा। उसे देखकर उसी बंधन में बँधे विजय ने कहा—सेठजी, आपके पास आवश्यकता से अधिक भोजन है, थोड़ा-सा मुझे भी दे दीजिए।

सेठजी बोले—'हत्यारे पापी, तूने मेरे निरपराध अबोध बालक का वध किया है। तू मेरा कट्टर शत्रु है। बचा हुआ भोजन चाहे चीलों और कौवों को खिला दूँगा या फेंक दूँगा; पर तुझे एक सीथ ( कण ) भी न दूँगा।'

यह कह सेठजी ने सारा भोजन खा लिया और रीते बर्तन देकर दास को विदा किया।

भोजन करने के अनन्तर सेठजी को शौच जाने की इच्छा हुई। सेठजी बोले—भाई, तुम मेरे साथ एक ओर चलो जिससे मैं शौच क्रिया से निवृत्त हो सकूं।

चोर बोला—सेठजी, जो खायगा वह जायगा। मैं क्यों जाऊँ? मैंने तुम्हारा भोजन तो किया नहीं कि मुझे शौच की इच्छा हो। फिर मुझे जाने की क्या आवश्यकता

है? मैं भूख का मारा तड़फ रहा था और तुम आनन्द से भोजन गटक रहे थे! प्रार्थना करने पर भी तुमने मुझे एक कण तक न दिया। मेरा पेट भूख की ज्वाला से जल रहा है। मैं इस स्थान से तिल भर भी न हटूंगा।

सेठजी लाचार थे। उनके पैर विजय के साथ बँधे थे, अकेले जा नहीं सकते थे। किसी प्रकार कुछ समय काटा; मगर शौच की तीव्र बाधा को वे अन्त तक सहन न कर सके। तब फिर चोर से चलने की प्रार्थना की। चोर टस से मस न हुआ। सेठजी दुःखित स्वर में कहने लगे-भाई, मुझ पर दया करो। मेरे प्राण निकल रहे हैं, मेरे साथ चलो।

चोर—सेठजी, मैं एक शर्त पर तुम्हारे साथ चल सकता हूँ। वह शर्त यह है कि कल से तुम्हारे लिए जो भोजन आवे उसमें से मुझे भी हिस्सा देना पड़ेगा। इसके बिना मैं एक पैर भी न सरकूँगा।

सेठजी बड़े असमंजस में पड़े। पुत्रघातक को भोजन का एक सीथ भी देना उन्हें स्वीकार न था; पर दिये बिना काम भी नहीं चल सकता था। अन्त में लाचार हो उन्हें भोजन देने का वचन देना पड़ा। तब दोनों एकान्त स्थान में गये और सेठजी निबटकर अपने स्थान पर आ गए।

दूसरे दिन दास भोजन लेकर फिर जेलखाने पहुँचा। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सेठजी ने स्वयं भोजन करके

विपद्ग्रस्त सेठ, कारागारमें अपने पुत्र-घातक चोर के साथ, वेड़ी के वन्धनमें बंधकर, विवशता के कारण, उस चोरको भी अपनेही भोजनमेंसे, भोजन दे रहा है।

चोर को भी भोजन कराया। सेठजी के इस व्यवहार से दास कुढ़ गया। उसने घर पहुँच सेठानीजी से कहा—'सेठजी ने पुत्रघातक विजय चोर को भोजन देकर बड़ा भारी अनर्थ किया है।' भद्रा सेठानी यह बात सुनकर बहुत दुःखी हुई। वह पति पर क्रुद्ध हो गई। उसके हृदय में पति के प्रति जो प्रेम का भाव था उसका स्थान वैर-भाव ने ग्रहण किया।

कुछ समय के पश्चात सेठजी के इष्ट-मित्र और कुटुम्बी जन राजा के पास गए और विनयपूर्वक सेठ के अपराधों के लिए क्षमा-प्रार्थना कर उसे कारागार से मुक्त करा लाए।

सेठजी की कारागार-मुक्ति से उनके प्रिय जनों को तथा नगर-निवासियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। लोगों ने उनका स्वागत किया। सेठजी विशेष-विशेष व्यक्तियों से मिलते हुए घर आये। घर के सब नौकर—चाकरों ने उनका स्वागत किया और कुशल-समाचार पूछे। कुटुम्बी जनों से मिलने के पश्चात् वे अपनी पत्नी के पास गए। पत्नी क्रोध से जल रही थी। उसने सीधे मुँह बात तक न की, बल्कि मुँह फेर कर खड़ी हो गई। अपनी पत्नी का यह आकस्मिक और अभूतपूर्व व्यवहार देख कर सेठजी चकित रह गए। उन्होंने कहा—' प्रिये, इस अवसर पर

रूठने का क्या कारण है? मैं जेल से मुक्त होकर आया हूँ, इसके लिए तुम्हें तो सबसे अधिक प्रसन्न होना चाहिए था। पर आज तुम में विचित्र परिवर्तन दिखाई दे रहा है। तुम मुझ से बोलती नहीं। यही नहीं, मुझे देखकर मुँह फेर लिया है! कहो, इस आश्चर्यजनक व्यवहार का क्या कारण है?

भद्रा—आप कहते हैं, मुझे प्रसन्न होना चाहिए। बात तो ठीक है; पर ज़रा अपनी ओर तो निहारो! बड़ी-बड़ी मुसीबतों से प्राप्त हुए मेरे एकलौते पुत्र का जिसने हरण किया, जिसने मेरा सर्वस्व छीन कर मुझे जीवन पर्यंत घोर यातना पहुँचाई, उस हत्यारे कठोरहृदय चोर को भोजन खिला-खिलाकर आपने उसकी रक्षा की है! आपका यह व्यवहार क्या जले पर नमक छिड़कने के समान नहीं है? ऐसी दशा में आप मेरी प्रसन्नता की आशा कैसे रखते हैं?

सेठजी ने पत्नी को सान्त्वना देते हुए कहा—'प्रिये, किसी भी बात का पूर्वापर विचार किये बिना निर्णय कर लेना बुद्धिमत्ता नहीं है। कार्य, शरीर का व्यापार है और भावना मन का व्यापार। दोनों कभी-कभी एक दूसरे के अनुकूल होते हैं; पर सदा अनुकूल ही हों, यह नियम नहीं है। देश, काल और परिस्थिति के कारण एक ही कार्य विभिन्न-विभिन्न भावनाओं से संपन्न होता है। यदि मैं उस

हत्यारे को सहायक या मित्र समझकर भोजन देता तो निस्सन्देह मैं तुम्हारा अपराधी था। पर ऐसा नहीं है। मैं उसे भोजन दिये बिना जीवित ही नहीं रह सकता था। मैंने अपने स्वार्थ से बाध्य होकर उसे भोजन दिया था। बताओ, वह साथ न जाता तो मेरी शारीरिक आवश्यकताएँ कैसे पूरी होतीं और कैसे मैं यहां जीवित लौट पाता ? मुझे बाध्य होकर, अनिच्छा से केवल अपना काम निकालने के लिए, उसे भोजन देना पड़ा था।'

पति के इस स्पष्टीकरण से भद्रा संतुष्ट हुई। उसने अपने अनुचित व्यवहार के लिए क्षमा-याचना की और आदर तथा प्रेम के साथ सेठजी से मिली। दम्पति पूर्ववत फिर आनन्द के साथ रहने लगे।

आजकल का दाम्पत्य-जीवन अनेक प्रकार के क्लेशों से परिपूर्ण हो गया है। घर में शांति और प्रसन्नता के बदले घोर अशान्ति और मनमुटाव पाया जाता है। इससे जीवन शुष्क और नीरस हो गया है। दम्पति का कर्तव्य है कि वे जब एक दूसरे का अपराध देखें तो मिष्ट वाणी से उसे समझावें और जो भ्रान्ति उत्पन्न हो गई हो उसे शान्ति के साथ हटाकर घर में प्रफुल्लता, शान्ति और प्रसन्नता का वातावरण बनाये रखें तथा एक दूसरे के आत्म विकास में सहायक बनें।

विजय चोर कारागार के अपार दुःखों के भार को किसी प्रकार सहार कर मरा और अपने घोरतम पापकर्मों के फलस्वरूप नरक में गया। वह नरक की भयंकर यातनाएँ भोगकर जन्म-मरण करता हुआ संसार-परिभ्रमण करेगा।

एक बार धर्मघोष नामक मुनिराज अनेक छोटे-बड़े ग्राम आदि में विचरते हुए राजगृही नगरी में पधारे। उनका उपदेश अत्यन्त हृदयग्राही और मार्मिक होता था। वह बड़े विद्वान् और कुशल उपदेशक थे। जगत् को धर्म का संदेश देना उनका एक प्रधान कर्त्तव्य था। स्थान-स्थान पर धर्म की घोषणा करने के कारण उनका नाम 'धर्मघोष' पड़गया था।

उनके शुभागमन के समाचार सुन राजगृह की धार्मिक जनता उनके सदुपदेश को श्रवण करने के लिए उमड़ पड़ी। धन्ना सार्थवाह भी उपदेश-श्रवण के लिए गए। मुनिराज ने आज संसार के दुःखों और उनसे मुक्त होने के उपायों का सुन्दर विवेचन किया। वैराग्य से परिपूर्ण उपदेश का सार्थवाह के हृदयपर अच्छा प्रभाव पड़ा। वह संसार से विरक्त हो कर, सब प्रकार के परिग्रह रूपी ग्रह से छुटकारा पाकर दीक्षित हो गये। उन्होंने बहुत वर्षों तक संयम की आराधना की और अंत में एक मास का संथारा धारण करके प्रथम देवलोक में महा-ऋद्धिधारी चार पल्योपम की

आयु वाले देव हुए। देवलोक के सुख भोग कर, अपनी आयु पूर्ण करके, वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म धारण करेंगे और जिनदीक्षा धारण करके तपश्चरण की अग्नि में कर्मों का ईंधन बनाकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

## उपसंहार

धन्ना सार्थवाह और विजय चोर की कथा, सिर्फ कथा नहीं है, बल्कि उसमें एक महान् आध्यात्मिक तत्त्व सन्निहित है। उस तत्त्व को समझ लेना ही इस कथा के मर्म को समझना है।

जिस प्रकार धन्ना सेठ और विजय चोर एकही बेड़ी में जकड़े थे उसी प्रकार आत्मा और शरीर एक ही बंधन में बँधे हैं। आत्मा सेठ और शरीर चोर के स्थान पर है। जैसे चोर दूसरों की संपत्ति का अपहरण करने में और अनेक दुष्कृत्यों में प्रवृत्त होता है वैसे शरीर आत्मा से भिन्न पुद्‌गल-जन्य सुखों को प्राप्त करने में और अपने को हृष्टपुष्ट बनाने में तत्पर रहता है।

सेठने चोर को भोजन दिया था;पर अपना मित्र,सहचर या हितैषी समझ कर नहीं, वरन् स्वार्थ साधने के लिए ही दिया था। इसी प्रकार ज्ञानी जन शरीर को हृष्टपुष्ट बनाने के लिए उससे अनुराग रखकर उसे भोजन नहीं देते; किन्तु

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि के अभिप्राय से देते हैं। शरीर, आत्मविकास का अनिवार्य साधन है। उसके सहयोग के बिना आत्मा के कल्याण में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतएव आत्महित रूपी सर्वोत्कृष्ट स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए शरीर को भोजन देना पड़ता है। योगी जन, शरीर के लिए आत्मा का उत्सर्ग नहीं करते; किन्तु आत्मा के लिए शरीर का उत्सर्ग भले ही कर देते हैं।

शरीर रूपी चोर को भाड़े के रूप में यदि टुकड़ा न दिया जाय तो वह आत्मार्थ में उसी प्रकार बाधा पहुँचाता है जैसे चोरने सेठ की शौच-क्रिया में बाधा डाली थी अतएव ज्ञानी जन जप, तप, भजन रूपी इष्ट की सिद्धि के हेतु शरीर को भोजन देते हैं, उसे पोषण करने के लिए नहीं। इस सिद्धान्त को हृदयंगम करके तथा तदनुसार आचरण करके प्रत्येक व्यक्ति, साधु, गृहस्थ आदि इसलोक और परलोक में प्रशंसा प्राप्त करते हैं और करेंगे। उन्हें यम की यातना नहीं भुगतनी पड़ेगी। वे असीम और शाश्वत आत्मिक सुख प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।

# तीसरा अध्याय

चीन काल में चम्पा नगरी अत्यन्त विशाल, सुन्दर और वैभव से भरपूर थी। स्वर्गपुरी भी उसके सामने तुच्छ जान पड़ती थी। अनेक श्रीमान् और विद्वान् उसमें निवास करते थे। वह व्यापार का एक मुख्य केन्द्र थी।

प्रजाप्रिय महाराज अजातशत्रु ( कुणिक ) उस नगरी के अधिपति थे। वे सूर्य के समान प्रतापी थे, चन्द्रमा के समान प्रजा के आह्लादक थे, समुद्र के समान गंभीर और मर्यादापालक थे। प्रजा पर उनका पुत्रवत् स्नेह था। प्रजा के सुख में सुखी और दुख में दुखी होते थे। इसलिए उनकी प्रजा भी उनके प्रति आन्तरिक आदर का भाव रखती थी। सर्वत्र आनन्द था। प्रजा संतुष्ट, सुखी, सम्पन्न, शीलवान् और स्वस्थ थी।

चम्पा नगरी के बाहर सुभूमि नामक एक सुन्दर बाग था। उसके उत्तर में सघन वृक्षों से व्याप्त एक विकट वन था। उस वन में एक सुन्दर मोर रहती थी। जब मोर अपने चित्र-विचित्र पंख फैलाकर नृत्य करती तो बड़ी मनोहर मालूम होती थी। मेघ की गंभीर गर्जना सुनकर मोर के हर्ष का पारावार न रहता था। वह मानों मेघ-गर्जना का स्वागत करने के लिए श्रुतिमधुर आलाप करने लगती थी। उसने दो सुन्दर सफेद रंग के अण्डे दिये थे। मोर उन अंडों का अत्यन्त वत्सलभाव से पालन कर रही थी।

इसी चम्पा में जिनदत्त और सागरदत्त नामक दो सेठ के पुत्र रहते थे। वे दोनों बाल्यकाल से ही मित्र थे। उनका परस्पर प्रगाढ़ प्रेम था। दोनों की बालकेलि और शिक्षा एक साथ हुई थी। दोनों की उम्र भी समान थी। किसी भी मेला या महोत्सव आदि के अवसर पर वे साथ ही रहते और प्रत्येक कार्य एक दूसरे की अनुमति से ही करते थे। उनका स्नेह अकृत्रिम था। उसमें स्वार्थ की गंध नहीं, कपट का लेश नहीं था। नगरी के लोग उन्हें दो शरीर एक प्राण कहते थे।

एक दिन दोनों आनन्दमग्न हो सुन्दर बगीचे में बैठे हुए प्रकृति के रमणीय दृश्यों को निहार रहे थे। बगीचे में भांति-भांति के सुरभिपूर्ण पुष्प खिले हुए थे। हरियाली

छाई हुई थी। उस सुन्दरता के कारण दोनों का मन मुग्ध हो रहा था। उसी समय जिनदत्त ने सागरदत्त को अपनी ओर आकर्षित करते हुए कहा—मित्र, देखो प्रेम संसार में कैसी अद्भुत वस्तु है। ये लताएँ कैसे प्रणय-भाव से वृक्षों से लिपटी हैं! रसिक भ्रमर कलियों के रस का आस्वादन करता हुआ उनकी सुगंध में मस्त हो रहा है और गुनगुना कर अपने आन्तरिक प्रमोद को व्यक्त कर रहा है। वायु के आगमन से लताएँ थिरक-थिरक कर नाच रही हैं। पक्षी-गण परस्पर प्रसन्नतासूचक कलकलनाद कर रहे हैं। वास्तव में प्रेम धन्य है। प्रेम के आधार पर ही समस्त जीव-सृष्टि अवलंबित है। हम दोनों इसी प्रकार प्रेम के प्रगाढ़ बंधन में बँधे रहकर जीवनलीला समाप्त करेंगे तो कितना अच्छा होगा! अहा, प्रेमी-जीवन कितना सरस, शान्तिकर और सुखमय होता है। प्रेम रूपी देवता के प्रसाद से कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाते हैं।

इस प्रकार कह कर दोनों एक विचित्र भावावेश में मग्न हो गए। दोनों ने सुख-दुःख, संपत्ति-विपत्ति, व्यापार और विदेश गमन आदि प्रसंगों पर साथ रहने की फिर प्रतिज्ञा की और प्रेम की तरंगों में बहने लगे।

इसी नगरी में देवदत्ता नामक एक वेश्या रहती थी। उसका महल ऐश्वर्य, हासविलास और भोगोपभोग की

सामग्री म परिपूर्ण था। अनेक दास-दासी उसकी सेवा में सदा तत्पर रहते थे। युवकों के मन को आकृष्ट करने में वह बड़ी निपुण थी। तरह-तरह के हावभाव और कटाक्षों द्वारा वह नगर के धनिक लोगों को क्षणमात्र में अपने प्रति आसक्त कर लेती थी। उसकी मनोहर नृत्यकला और गान सुनकर नगरी के अनेक नवयुवकों ने अपना हृदय उसे समर्पण कर दिया था। उसे प्रेम करने वाले अनेक थे; पर उसका सच्चा प्रेम किसी पर न था। उसकी उपासना करने वालों की कमी न थी; पर वह धन के सिवाय किसी की भी उपासिका न थी।

वेश्या-गमन वास्तव में एक बड़ा भारी अमंगलकारी पातक है, कलंक है · जो मनुष्य वेश्या के चक्कर में पड़ जाता है उसका उद्धार होना कठिन हो जाता है। वेश्यागमन से श्रावक का व्रत तो खंडित होता ही है, साथ में जीवन भी बर्बाद हो जाता है। इसके प्रताप से कुबेर कंगाल बन जाता है, देव दानव बन जाता है, साक्षर राक्षस बन जाता है। वेश्यागमन वह प्रचंड अग्नि है जिसमें मनुष्य की तमाम कीर्ति, प्रतिष्ठा और मानमर्यादा भस्म हो जाती है। वेश्यागामी पुरुष विलास की अखण्ड धारा में बहता ही जाता है। विना उत्कट पुण्योदय के वह किनारे नहीं लग पाता। उसका धार्मिक, नैतिक और शारीरिक पतन हो जाता है।

तेजस्विता नष्ट हो जाती है। उसका जीवन उजड़े और उखड़े हुए पेड़के समान बन जाता है जो अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकता। अतएव प्रत्येक पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह इस पातक से बचा रहे, अपने सर्वस्व को न गँवावे। अस्तु।

एक दिन जिनदत्त और सागरदत्त ने विचार किया—इस सुहावने समय में हम लोग कल वस्त्रों एवं आभूषणों से सजकर देवदत्ता गणिका को साथ लेकर वनक्रीड़ा करने चलें और पूरा दिन क्रीड़ा ही में बिताएँ। प्रातःकाल होते ही उन्होंने सेवकों को नन्दा पुष्करिणी के निकट एक सुन्दर मंडप बनाने की और स्वादिष्ट तथा रुचिकर भोजन, फल, पुष्प, गंध तथा विलास की अन्य सामग्री सजा रखने की आज्ञा दी।

दोनों मित्र फूलों और घंटाओं से सजे हुए तथा सुन्दर और हृष्टपुष्ट बैल जिसमें जुते हुए थे ऐसे रथ पर सवार होकर गणिका के मकान पर पहुँचे। उन्हें आते देख गणिका बहुत प्रसन्न हुई और आदर-सत्कार करने के पश्चात् उनके सामने बैठकर मधुर मुस्कान से उनका मन मोहित करने लगी। फिर वह कहने लगी—"आप श्रीमानों ने बहुत समय बाद यहां पधारकर मुझे कृतार्थ किया है, एतदर्थ मैं आभारी हूं। कहिए, क्या आज्ञा है?"

दोनों मित्र उसके मधुर हास और वचनालाप से मोहित होकर बोले—"प्रिये, तुम्हारे सुन्दर रूप और नृत्य-गान ने हमारे मन को अपने अधीन बना लिया है। तुम्हारे ये मादक नयन हमारे ऊपर जादू-सा असर कर रहे हैं। हम चाहते हैं, तुम हमारे साथ चलकर अपने मनोहर नृत्य-गान से हम लोगों का मन प्रसन्न करो।"

वेश्या जो चाहती थी वही उसे मिला। वेश्या सदा किसी न किसी कामी शिकार को फँसाने की युक्ति खोजा करती है। ये स्वयं ही आकर फँस गए। अतएव वह नम्रता से बोली—"आप नगर के धनी-मानी श्रीमान् हैं। आपकी आज्ञा का पालन करना ही होगा। मैं तो आपकी सेविका हूँ। सब प्रकार आपके मन को प्रसन्न करना ही मेरा परम कर्त्तव्य है।"

इतना कह अपने साज-सामान के साथ वह इठलाती हुई रथ में बैठ गई और सब वन की ओर चले। वहां एक सुसज्जित तम्बू में अनेक प्रकार की भोजन-सामग्रियां थालों में सजी रखी थीं। पके हुए स्वादिष्ट फल, फूलमालाएँ और विलास की सभी सामग्रियां उपस्थित थीं। वहां पहुँचकर सब ने भोजन किया, मालाएँ पहनीं और हाथ में हाथ मिलाकर मदोन्मत्त हो मधुर वार्तालाप करते हुए वे बगीचे में टहलने लगे।

हास्य-विनोद में मस्त होने के कारण उन्हें मार्ग का कुछ भान न रहा और चलते-चलते उसी अटवी के पास जा पहुंचे जहां मयूरी के सुन्दर अंडे रक्खे थे। इन लोगों को आते देख मयूरी अत्यन्त भयभीत हुई और चीत्कार करती हुई उड़कर पासवाले पेड़पर जा बैठी। मयूरी की एकाएक चीख से एक क्षण के लिए उनका आगे बढ़ना रुक गया। उन्होंने सोचा—'मयूरी के एकदम चीत्कार कर उड़ने में कुछ रहस्य अवश्य होना चाहिए।' वे दोनों उसी स्थान पर गए जहां मयूरी पहले बैठी थी। उन्हें दो सुंदर अंडे दिखाई दिये। उनकी सुन्दरता देख वे मुग्ध हो गए। कहने लगे—'अहा! ये कैसे सुन्दर अंडे हैं। चलो, इन्हें घर ले चलकर पोषेंगे। जब ये बड़े हो जाएँगे तो चुटकी बजा-बजा कर नचाएंगे और इनका सुन्दर नाच देख-देख कर मन प्रसन्न करेंगे।' उन्होंने अंडों को ले जाना निश्चित करके नौकरों को बुलाया और उन्हें आदेश दिया—'देखो ये मयूरी के दो सुंदर अंडे हैं। उन्हें सुरक्षित ले जाकर कुकड़ी के अंडों में रख दो। खूब अच्छी तरह संभालना।' आज्ञा पाते ही नौकरों ने दोनों अंडे उठा लिए और अपने स्वामियों की आज्ञा के अनुसार व्यवस्था कर दी।

मनुष्य जब एक ओर तन्मय हो जाता है तब उसे उस 'एक' के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। शेष संसार उसे

शून्य-सा भासने लगता है। जिनदत्त और उसका मित्र-दोनों ही आनन्द में मग्न थे। उन्हें समय का भान न रहा और चलते-चलते बहुत दूर जा निकले। संध्या का समय हो गया। आखिर दोनों मित्र वेश्या के साथ हास-विलास करते हुए वापस लौटे। रथ पर सवार हो अपने स्थान पर आये और वेश्या को यथेष्ट पारितोषिक देकर उसे प्रसन्न किया। वह भी खुशी-खुशी अपने घर चली गई।

रात्रि के बाद प्रातःकाल हुआ। सागरदत्त मयूरी के अंडे के पास पहुँचा और उसे हाथ में लेकर सोचने लगा--'इस अंडे में से मयूर निकलेगा भी कि नहीं? निकलेगा तो न जाने कब निकलेगा?' इस प्रकार सोचकर वह उसे बार-बार धरती पर धर कर उठाने लगा। फिर भी उसका संशय न मिटा। वह उसे बार-बार कान के पास ले जाकर हिलाता और ज़मीन पर रखता। इस प्रकार शंका रूपी शंकु से पीड़ित हो सागरदत्त अंडे के साथ खेल-सा करने लगा। बार-बार की इस धर-पटक से अंडा निर्जीव हो गया। वह बिलकुल नरम और ढीला पड़ गया।

एक दिन फिर उसे अंडे का ध्यान आया। वह विचारने लगा--अब अंडे में से मयूर निकल आया होगा। फिर तुरन्त ही उसका ध्यान बदल गया और वह अपने-आप कहने लगा—सम्भव है, मयूर इसमें से निकले, सम्भव है,

न भी निकले। इस प्रकार विचार करता हुआ वह अंडे के पास गया और नाना प्रकार की आशंकाएँ करने लगा।

जिनदत्त भी एक अंडा ले गया था। वह सागरदत्त की भांति शंकाशील न था। उसे अण्डे के निकलने का विश्वास था। अतएव न तो उसने अण्डे को हाथ लगाया, न उठाया और न हिलाया ही। फलस्वरूप यथासमय जिनदत्त के लाए हुए अण्डे में से एक सुन्दर मयूर का बच्चा निकला। वह बड़ा मनोहर था और आकर्षक था। उसके बाहर निकलते ही जिनदत्त ने एक कुशल मयूर-पालक को बुलाया और कहा—देखो, इस मयूर के बच्चे को ले जाओ। इसका अच्छी तरह पालन-पोषण करना। समय आने पर इसे नाचना सिखाना और नृत्यकला में खूब होशियार बनाना।

मयूरपालक बच्चे को अपने यहाँ ले गया। उसने बड़े चाव से उसका पालन-पोषण किया और नाचने की कला में उसे प्रवीण कर दिया। मयूरपालक ज्योंही चुटकी बजाता मयूर का बच्चा त्योंही बड़े सुन्दर ढँग से अपने रंगबिरंगे पंख फैलाकर नाचने लगता था। कभी-कभी वह आकाश की ओर देखकर श्रुति-मधुर केकारव करता और कभी कोई अजनबी आहट पाकर भयचकित हो इधर-उधर निहारने लगता था। उस समय वह बड़ा ही सुन्दर जान

पड़ता था।

मयूर-शावक जब नृत्यकला में निपुण हो गया तो मयूरपालक उसे जिनदत्त के पास ले गया। जिनदत्त उस का कौशल देख बहुत प्रसन्न हुआ। उसने मयूरपालक को यथेष्ट पारिश्रमिक देकर प्रसन्न किया।

यह मयूर अब जिनदत्त का स्नेहभाजन बन गया। मयूर अपने स्वामी का मनोरंजन करता था और जिनदत्त उसे हार्दिक स्नेह से सँभालता था। नगर-निवासी उसके नृत्य को देखकर मारे प्रसन्नता और कौतूहल के फूले न समाते थे। उसका नृत्य देखने के लिए लोगों की भीड़ लगी रहती थी। लाखों मनुष्यों ने उसके नृत्य को देखा और प्रसन्न होकर उसे लाखों रुपये पारितोषिक में दिये।

इस प्रकार उस अण्डे पर प्रेम और विश्वास रख कर जिनदत्त ने एक सुन्दर मयूर प्राप्त किया जो उसके आनंद और संतोष का कारण हुआ।

सागरदत्त ने अपने संशयशील और अधीर स्वभाव के कारण अण्डे को निर्जीव बना दिया निर्जीव अण्डे से फिर मयूर कैसे निकल सकता था? अतएव वह दुःखी हुआ। एक बार जिनदत्त के मयूर को देख कर उस ने कहा—'मित्र, तुम्हारे अण्डे से मयूर कैसे निकला? मेरे अण्डे से तो कुछ भी नहीं निकला!' जिनदत्त ने उत्तर दिया—
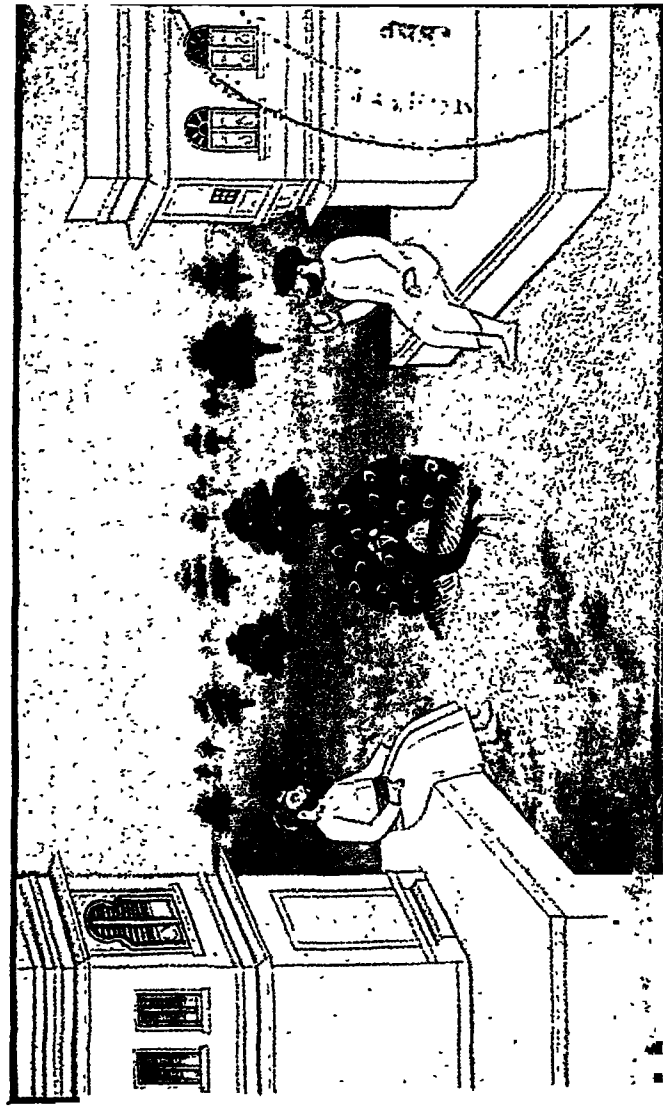
एक दृढ़ विश्वासी मित्र मयूर के अण्डे का समुचित पोषण करके उचित समय पर मयूर के बच्चे का जन्म हो जाने पर उसका नृत्य देखकर प्रसन्न हो रहा है। और इसके विपरीत दूसरा अविश्वासी मित्र संशय सहित मयूर के अण्डेको बारम्बार हिलाकर उसको निर्जीव करके मयूरका जन्म न होने पर [illegible] है।

भाई, प्रत्येक कार्य की सफलता के लिए धैर्य और विश्वास की आवश्यकता होती है। जिस कार्य के सम्पन्न होने में जितने समय की आवश्यकता है वह तो लगेगा ही। तुमने हथेली पर आम जमाना चाहा। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज तुम निराशा के शिकार हो रहे हो। मैं अधीर नहीं हुआ और संदेह को भी अपने हृदय में स्थान न दिया। इसी कारण मुझे सुन्दर मयूर की प्राप्ति हुई। सागरदत्त अपने उतावले स्वभाव का बहुत पश्चात्ताप करने लगा।

सागरदत्त की भांति जो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्ररूपित सामायिक, पौषध, दया, उपवास, संवर, त्याग, साधुविरति, श्रावकधर्म आदि द्वारा प्राप्त होने वाले स्वर्ग और मोक्ष के उत्तम फलों पर विश्वास न रखकर अपने हृदय में संदेह को स्थान देते हैं वे इन महान् कार्यों का वास्तविक फल नहीं प्राप्त कर सकते। वे इस प्रकार सोचते हैं—मैं इस संयम तथा चारित्र का सेवन कर रहा हूँ, अपने शरीर को तरह-तरह की तपस्याओं द्वारा सुखा रहा हूँ, नित्य आवश्यक क्रिया करता हूँ, इन सब क्रियाओं का फल मुझे भविष्य में मिलेगा या नहीं? कहीं ऐसा तो न होगा कि प्राप्त भोगोपभोगों का त्याग कर दूँ और स्वर्ग-मोक्ष आदि की भी प्राप्ति न हो! ऐसे लोग सर्वज्ञ वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट मार्ग में शंका रखकर

या तो दूसरों की देखादेखी या धार्मिक समाज में प्रतिष्ठा की प्राप्ति करने के लिए अथवा दूसरों की दृष्टि में अपना ऊँचा स्थान बनाने के उद्देश से—लोक-रंजन के लिए अनेक प्रकार की कायिक क्रियाएँ करते हैं; किन्तु विशुद्ध भावना-हीन एवं शल्य-सहित होने के कारण ये क्रियाएँ आत्म-कल्याण साधक नहीं होतीं। क्योंकि संशय, सम्यक्त्व का घातक है, सम्यक्त्व के आठ मलों में वह सबसे पहला मल है जो सम्यक्त्व को सड़ा डालता है। सम्यक्त्व के विना की हुई क्रियाएँ मुक्ति का नहीं, किन्तु संसार का कारण होती हैं। कहा भी है—

नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्त चेतनाः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते, सम्यक्त्वग्रस्त चेतनाः।

अर्थात्—मिथ्यादृष्टि, मनुष्य होने पर भी पशु के समान है और सम्यग्दृष्टि पशु होने पर भी मनुष्य के समान है।

वास्तव में जो श्रद्धाहीन है, जिसे अपने निर्दिष्ट सम्यक् पक्ष पर भी विश्वास नहीं है वह अस्थिर-चित्त हो जाता है। वह किसी महान् लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। जरा-जरा सी कठिनाइयां उसे पथभ्रष्ट बना देती हैं। वह न इधर का रहता है, न उधर का। वह अपने महत्त्वपूर्ण मानव जीवन को व्यर्थ ही गँवा देता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने सर्वप्रथम विशुद्ध श्रद्धा पर बल दिया है। वही

आध्यात्मिक विकास का मूल है। जिसका मूल ही सड़ा-गला होगा वह सफल कैसे बन सकता है? अतएव जो भव्य प्राणी अपनी आत्मा का कल्याण चाहते हैं उन्हें सर्वप्रथम अपनी श्रद्धा-सम्यक्त्व को विशुद्ध बनाना चाहिए।

सागरदत्त की भांति शंकाशील मनुष्य-प्राणी शुभ फल से हाथ धो बैठता है।

हृदय-विशुद्धि के बिना क्रियाएँ करने में मन नहीं लगता और मन की संलग्नता के बिना की जाने वाली कोरी क्रियाएँ निष्फल होती हैं। माला के मनके गिनने से या छापा-तिलक लगा लेने से ही सिद्धि का कोई अधिकारी नहीं बन सकता। सिद्धि का अधिकारी वही हो सकता है जो मानसिक पवित्रता के साथ वीतरागोपादिष्ट धर्म क्रिया करता है, सर्वज्ञ-प्ररूपित तत्त्वों को यथार्थ रूप में समझकर उनपर अगाढ़ श्रद्धा की भावना रखता है, जिसके हृदय में संदेह या कामना को जगह नहीं है और जो फल के लिए अधीर नहीं बनता। ऐसा किये बिना आत्मसुख कदापि नहीं प्राप्त होता।

हाँ, श्रद्धा के सम्बन्ध में कुछ बातें विचारणीय अवश्य हैं। जिस श्रद्धा में विवेक को कोई स्थान नहीं होता, जो मूढ़तापूर्वक की जाती है वह सुफलप्रद नहीं होती। सत्य श्रद्धा विवेकपूर्ण और परीक्षापूर्वक होती है। आज कल

कितने लोग श्रद्धामात्र को अंधश्रद्धा कह कर उसके प्रति उपेक्षा का भाव व्यक्त करते हैं और प्रत्येक विषय को तर्क की कसौटी पर कसने का समर्थन करते हैं। पर श्रद्धाशून्य तर्क नास्तिकता को जन्म देता है। तर्क एक तीक्ष्ण तलवार के समान है जिससे विध्वंस ही विध्वंस होता है, सृष्टि नहीं; अर्थात् वह खण्डनात्मक होता है, मण्डनात्मक नहीं। इसके अतिरिक्त एक बात और है। वह यह कि तर्क की तराजू बहुत मोटी है, उस पर सूक्ष्म तत्त्व तोले नहीं जा सकते। ऐसे अनेक विषय हैं जहां तर्क का प्रवेश हो ही नहीं सकता। उन्हें कोई तर्क से सिद्ध करना चाहे तो उसे सफलता नहीं मिल सकती। ऐसी हालत में वह उन तत्त्वों का अपलाप कर देगा। यह अपलाप सत्य का अपलाप होगा। अपनी मौजूदा परिस्थिति में ही सब कुछ जान सकते हैं और जो हम नहीं जान पाते वह है ही नहीं, इस प्रकार का अभिमान भयंकर भूल की भित्ति पर निर्भर है। यह अहंकार मानव-समाज के ज्ञान सम्बन्धी विकास को रोकने वाला और सत्य के विरुद्ध है।

यही कारण है कि प्रत्येक धर्म में श्रद्धा को प्रमुख स्थान दिया गया है और तर्क को अपरिपूर्ण बताया गया है। धर्म शास्त्र यहां तक कहता है—'सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं' अर्थात् एकनिष्ठ श्रद्धा रखने वाला जीव

अपने अन्तिम लक्ष्य (मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है। जिन्होंने मनोविज्ञान और मानसोपचार शास्त्र का अध्ययन किया है वे जानते हैं कि श्रद्धा का कितना जबर्दस्त माहात्म्य है। श्रद्धाहीन मनुष्य का जीवन डांवाडोल रहता है, उसके जीवन में एकनिष्ठता नहीं होती, समस्त शक्ति लगाकर अपने ध्येय को सिद्ध करनें के लिए वह प्राणपण से प्रयत्न नहीं करता। वह पतन की ओर उन्मुख होता है।

दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि तर्क एक वेश्या के समान है और श्रद्धा कुलवधू के समान है। वेश्या अपने प्रत्येक आश्रयदाता का मनोरंजन करती है। वह उसकी भावना के अनुसार व्यवहार करती है और उसे संतुष्ट रखती है। इसी प्रकार तर्क भी प्रत्येक तार्किक की भावना के अनुकूल अर्थ को उपस्थित कर उसे संतुष्ट करने का प्रयास करती है और उसकी मानसिक प्रसन्नता का कारण बनती है। वेश्या सत्-असत् का खयाल नहीं रखती और तर्क भी सत्-असत् का खयाल छोड़कर तार्किक की मनोभावना के अनुकूल परिणत होती है। श्रद्धा, कुलवधू के समान अपने स्वामी अर्थात् श्रद्धालु को मर्यादा में स्थिर रखती है, नियत पथ पर डटे रहने की प्रेरणा करती है और उसके विकास में सहायक होती है।

श्रद्धा का आधार ज्ञानी जनों के वह अनुभव हैं

जिन्हें ज्ञानियों ने कठोर साधना करके और निरन्तर जागृत रहकर प्राप्त किया है। वे अनुभव उनके अनुयायियों के लिए निस्संदेह उपयोगी और पथप्रदर्शक हैं। जब तक कोई व्यक्ति उन महात्माओं से बढ़कर साधना नहीं करता और उनसे अधिक जागरूकता प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उन अनुभवों को मिथ्या या भ्रान्त कहने का साहस एक प्रकार की धृष्टता ही कही जायगी। अतएव श्रद्धा का एक सुदृढ़ और अभ्रान्त आधार है।

परन्तु तर्क का आधार क्या है? किस नींव पर तर्क की भित्ति खड़ी की जायगी? मनुष्य का मस्तिष्क वासनाओं से भरा है और प्रत्येक की वासनाएँ निराली-निराली होती हैं। इन वासनाओं के कारण मानव-मस्तिष्क विकृत और विषैला हो रहा है। इस विविध वासनाओं से भरे हुए विकृत मस्तिष्क से उत्पन्न होने वाले विचार ही यदि तर्क का आधार हैं तो तर्क एक रूप और अविकृत-अभ्रान्त किस प्रकार हो सकता है? वह तो अपने-अपने मस्तिष्क—वासनाओं—के अनुसार परस्पर विरोधी होंगे। परस्पर विरोधी तर्क सत्य की एकरूपता किस प्रकार सिद्ध कर सकेंगे? परस्पर विरोधी सत्य नहीं हो सकती; क्योंकि सत्य एक है, अद्वितीय है।

श्रद्धा का समूल संहार करके तर्क को ही यदि तख्त-नशीन कर दिया जाय तो प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार

होगा। कि वह अपने तर्क के अनुसार सिद्ध होने वाली बात अंगीकार करे। क्योंकि दूसरों के द्वारा कही हुई बात श्रद्धा-गम्य होगी और श्रद्धा का संहार कर दिया गया है। तब समाज का एक अज्ञान से अज्ञान मनुष्य भी अपने मस्तिष्क के अनुसार सत्य तत्त्व का स्वतन्त्र रूप से निर्णय करेगा। उस समय बेचारे सत्य भगवान् की कैसी दुर्गति होगी? उस समय सत्य मुरादाबादी लोटे के समान लुढ़कता रहेगा। तब सत्य की परिभाषा ही यह होगी कि 'मन चाहा सो सत्य।'

इस युग में यह विषय यद्यपि अत्यन्त उपयोगी है, फिर भी विस्तारभय से अधिक नहीं लिखा जा सकता। वास्तव में विवेकपूर्ण श्रद्धा के बिना सत्य के निकट पहुँचना संभव नहीं है; अतएव एकान्ततः तर्क के आधार पर खड़ा होने वाला व्यक्ति अवश्य नीचे गिरता है।

*भव्य जीवों को चाहिए कि वे सागरदत्त की भांति* संदेह में न पड़कर जिनदत्त की तरह धर्म पर विश्वास रखें। धर्म-श्रद्धा ही आत्मकल्याण का अद्वितीय मार्ग है। श्रद्धा वह राजमार्ग है जिसपर बिना झिझक के प्रत्येक व्यक्ति सरपट दौड़ सकता है और अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

# चतुर्थ अध्याय

वाराणसी (बनारस) नगरी अपनी पवित्रता के लिए जगत्-विख्यात है। भगवान् सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ की यह जन्मभूमि है। कुछ लोगोंका कहना है कि काशी में प्राण त्यागने से मुक्ति मिलती है। इस कथन की सत्यता-असत्यता पर हमें यहां विचार नहीं करना है। सच तो यह है कि मनुष्य की मनोभावना ही बंध और मुक्ति का कारण होती है। अन्य लोगों ने भी इसे स्वीकार किया है। कहा है—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

अपनी मनोभावना के अनुसार मनुष्य प्रवृत्ति करता है और उसी से शुभ एवं अशुभ फल पाता है। कोई बाहरी पदार्थ सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं है। फिर उल्लिखित कथन से काशी की प्रशंसा ही सिद्ध होती है। यह कथन अर्थवाद (प्रशं-

सरोवर से निकले हुए इन दो कछुओं पर श्रृगालों द्वारा आक्रमण होते ही एक कछुआ तो अपने अंगोपाङ्गोंको सिकोड़ कर अपनी प्राण–रक्षामें तत्पर है। और दूसरा कछुआ अगोपाङ्गों को फैलाए रखनेके कारण श्रृगालके आक्रमण द्वारा मृत्युके मुंहमें प्रवेश कर रहा है।

सापरक ) है।

इसी बनारस नगरी के बाहर ईशान दिशा में मृतगंगा नामक एक द्रह था। वह द्रह कटोरे के समान गोलाकार था। उसके चारों ओर संगमर्मर के सुन्दर घाट बने हुए थे। वह शीतल, मधुर और निर्मल जल से सदा परिपूर्ण रहता था। रंग-विरंगे कमलों के कारण वह अतीव कमनीय था। अपनी चपलता के कारण मनुष्यों के चित्त को आकृष्ट करने वाली छोटी-बड़ी मछलियां उसमें निरन्तर क्रीड़ा किया करती थीं। तत्काल अपने शरीर को सिकोड़ लेने वाले कूर्म उसके किनारे पड़े रहते थे।

इस द्रह के समीप एक छोटा-सा जंगल था। उसमें अनेक प्रकार के वन्य जन्तु निवास करते थे। उनमें दो शृगाल भी थे जो आपस में मित्रभाव से रहते थे। दिन भर वे सघन झाड़ियों में और गड़हों में छिपे रहते और रात होते ही आहार का अन्वेषण करने के लिए इधर-उधर घूमते-फिरते थे।

संध्या का समय हुआ। सूर्य का तेज क्रमशः कम होते-होते अन्त में नष्ट हो गया। विहंगमों का कलकलनाद बंद हो गया। मार्ग सुनसान हो गए। अन्धकार ने आकाशमंडल को वेष्टित कर लिया। ऐसे समय मनुष्यों से निर्भय होकर दो कछुए उस द्रह से बाहर निकले और स्थल

में आकर स्वतंत्रता का आनंदोपभोग करने लगे। उन्होंने अपने शरीर के अंगोपांगों को स्वच्छन्दतापूर्वक फैलाया और चारों ओर उस स्थान का निरीक्षण करने लगे।

उसी समय वह दोनों शृगाल भी आहार के लिए जीव-जन्तुओं की खोज में निकले। घूमते-घूमते वे उसी द्रह के किनारे जा पहुँचे। कछुओं ने उन मांस लोलुप शृगालों को आते देख कर अपने अंग सिकोड़ लिए और वे पत्थर के समान बन गए।

शृगालों ने पास आकर उन दोनों कछुओं को अपने पैने नाखूनों से फाड़ना चाहा; परन्तु उनका प्रयास वृथा हुआ। तब उन्होंने उन्हें मुह में दबाकर ऊपर की ओर उछाला और दांतों से चीरने का प्रयत्न किया। इस प्रकार भी वे अपने कार्य में सफल न हो सके। कछुओं को किसी प्रकार पीड़ा न पहुँची। जब शृगालों ने देखा कि यों काम न बनेगा तो युक्ति से काम निकालना चाहा। वे उन्हें छोड़-कर पास के एक पेड़ की ओट में छिप गए। कछुओं ने उन्हें छिपा देखा तो वे ज्यों के त्यों पड़े रहे।

कुछ देर के बाद दोनों सियार फिर आये और उन्हें उछाल-उछालकर फाड़ने का प्रयत्न करने लगे। पर अनेक प्रकार से कोशिश करके वे थक गए; कछुए जरा भी विचलित न हुए। वे पत्थर की भांति पड़े ही रहे। निराश

हो सियार फिर उसी पेड़ की ओट में जा छिपे ।

सिकुड़े-सिकुड़े पर्याप्त समय व्यतीत हो गया था;अतएव उनमें से एक कछुए ने सोचा, दोनों शृगाल चले ही गए हैं, अब डर क्या है ? अब तो पैर फैला लेने चाहिएँ । यह सोचकर ज्यों ही उसने अपना पैर निकाला त्यों ही शृगाल ने आकर उसे खा डाला । इस प्रकार उस मूर्ख कछुए ने अपने प्राणों से हाथ धो लिए । एक कछुए को खा लेने के पश्चात् दूसरे कछुए को भी मुँह में दबाकर उछालना और चीरना-फाड़ना शुरू किया, परन्तु उसने दृढ़ता से अपने अंग सिकोड़ लिए थे; अतएव उसका बाल भी बांका न हो सका ।

अन्त में वे शृगाल निराश हो गए और कुछ वश चलता न देख वहाँ से रवाना हुए । दोनों के चले जाने पर उस कछुए ने गर्दन निकाली और सावधानी से चारों ओर देखा । जब शृगाल दिखाई न दिये तब वह अपने पैरों को स्वच्छंदता से फैलाकर शीघ्र ही द्रह के पास पहुँचकर जल-मग्न हो गया।

## उपसंहार

जैसे वह कछुआ अपने हाथ-पैरों को वश में न रख सकने के कारण शृगालों का भक्ष्य बना और प्राण गवां

बैठा, उसी प्रकार जो साधु,साध्वी, श्रावक और श्राविका अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रखते वे असमय में ही मृत्यु को प्राप्त होकर दुर्गति के पात्र बनते हैं अथवा उनका सर्वविरति या देशविरति संयम-रूपी जीवन नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त जगत् में उनकी अपकीर्ति होती है और परभव में वे अनेक कष्ट भुगतते हैं। जो लोग इन्द्रियों के विषयों के अधीन हो उनके फन्दे में फँस जाते हैं वे धीरे-धीरे इतने गिर जाते हैं कि उन्हें लोकलज्जा या धर्म का बन्धन भी नहीं रोक सकता। वे उचित-अनुचित, हिताहित का विवेक खो बैठते हैं। विलास-वारुणी पीकर वे ऐसे मदोन्मत्त हो जाते हैं कि अनाचार और अत्याचार करने में उन्हें झिझक नहीं होती। उनका मूल्यवान् मानवजीवन मिट्टी में मिल जाता है, यही नहीं वरन् वह पाप का एक प्रबल कारण बन जाता है।

इन्द्रियविषय जीव का नाश करने के लिए तीक्ष्ण तलवार की धार के समान हैं। एक-एक इन्द्रिय के विषय में गृद्ध होकर अज्ञानी प्राणी अपने जीवन को नष्ट कर डालते हैं। रसना इन्द्रिय, मछली को धीवरों के कांटे में फँसा देती है। भौंरा कमल में बँध जाता है। मृग, बधिक के जाल में पड़ जाता है। हाथी गड्ढे में जा गिरता है। पतंग दीपशिखा में पड़ कर भस्म हो जाता है। मगर जो

पंचेन्द्रिय मनुष्य प्राणी पांचों इन्द्रियों के अधीन हो जाता है उसकी अन्त में क्या दशा होगी ? उसे संसार-सागर में न जाने कबतक डुबकियां लगानी पड़ेंगी। उनका उद्धार होना बहुत कठिन होगा।

इन्द्रियों के विषय अज्ञानी जीवों को ही सुखजनक प्रतीत होते हैं। वास्तव में उनमें सुख देने की जरा भी शक्ति नहीं है। पौद्गलिक सुख, सुखाभास है और वह भी दुःख से मिश्रित, क्षणिक और अतृप्तिकारी है। यह विषमिश्रितमिष्टान्न के समान परिणाम में दुखदायी ही होता है। अस्तु।

ज्ञानी जनों को चाहिए कि वे दूसरे कछुए के समान अपनी इन्द्रियों को गुप्त—व्यापारहीन—रखें। यदि किसी समय उनकी इन्द्रियाँ चंचल होकर विषयों की ओर अग्रसर हो जाएँ तो विषयों का वास्तविक स्वरूप विचारकर उन्हें संयम में स्थापित करें। ज्ञानी जन को मन और इन्द्रियों की सतत सावधानी रखकर चौकसी करते रहना चाहिए। जो महापुरुष इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें अपने अधीन कर लेते हैं वे धन्य हैं, उनका जीवन सराहनीय है। ऐसे महात्मा ही मुक्ति के अधिकारी बनते हैं।

# पंचम अध्याय

प्राचीन काल में द्वारिका नगरी अत्यन्त विख्यात, समृद्धि-समन्वित और विशाल प्राकार से परि-व्याप्त थी। उसके चारों ओर बड़े-बड़े दरवाजे थे। उसमें गगन-स्पर्शी प्रासाद शोभायमान थे। उसके विशाल बाजार, नाना प्रकार के बहुमूल्य हीरा पन्ना आदि जवाहरात, वस्त्र और कला-कौशल की वस्तुओं से भरे हुए थे। वहां के व्यापारी न्याय-नीति से व्यापार कर धनोपार्जन करते थे।

परम प्रतापी महाराज श्रीकृष्ण द्वारिका के सम्राट् पद को सुशोभित कर रहे थे। उनके शासन में दूध का दूध और पानी का पानी होता था। प्रजा के हित के लिए वे कुछ उठा न रखते थे। समस्त जनता अत्यन्त संतुष्ट रहती थी और शान्ति का सुख उपभोग करती थी। सम्राट्

श्रीकृष्ण पिता की भांति प्रजा के रक्षक थे और रिपुओं का मान-रूपी पर्वत का मर्दन करने के लिए वज्र के समान थे। उन्होंने अपने प्रकृष्ट प्रताप से भरतक्षेत्र के तीन खंडों पर आधिपत्य प्राप्त किया था। तीन खंडों के समस्त भूपति उनकी उंगली के इशारे पर नाचते थे।

इसी नगरी में थावच्चा नाम की एक सेठानी रहती थी। वह अपरिमित धन की स्वामिनी थी। उसके थावच्चा-कुमार नामक एक पुत्र था, जिसने बाल्यकाल में ही विविध विद्याओं में प्रवीणता पाई थी। वह अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण किसी भी विषय का शीघ्र ही अभ्यास कर लेता था। युवावस्था में उसका शरीर सुडौल और पुष्ट था। माता ने बत्तीस कन्याओं के साथ उसका विवाह कर दिया था। वह आनन्द में समय यापन कर रहा था।

उस समय सर्वज्ञता प्राप्त कर भगवान् नेमिनाथ आर्यावर्त्त में धर्मोपदेश कर रहे थे। उनके उपदेश में विचित्र आकर्षण था। जिसने भी उनका उपदेश सुना उसके हृदय-हृद में आत्महित की हिलोरें लहराने लगती था। वह संसार की असारता को साकार-सा करता हुआ मुक्ति के महान् मंगलमय मार्ग में प्रयाण करने के लिए तत्पर हो जाता था। उनका उपदेश लोकोत्तर शान्तिप्रदाता, विवेकवर्धक, और शाश्वत सुख के सन्मार्ग का प्रदर्शक

होता था।

धर्मोपदेश करते हुए वह द्वारिका नगरी के उद्यान में पधारे। नगर-निवासियों को ज्योंही आपके शुभागमन का वृत्तान्त विदित हुआ त्योंही उनके मानस रूपी मानस-सरोवर में आनन्द की अमन्द ऊर्मियाँ उठने लगीं। सब लोग अपने परिवार से परिवृत्त हो भगवान् के उपदेश से अपने जीवन को सफल बनाने के लिए उनके समीप जाने लगे। थावर्च्चापुत्र भी वहां पहुँचा।

भगवान्, महाराज श्रीकृष्ण के सांसारिक अवस्था के भाई थे और उनके धर्म-देव भी थे। अतएव उनके हृदय में जो आनन्द हुआ उसका वर्णन ही कैसे किया जा सकता है? उन्होंने तत्काल ही समस्त नगरी में आनन्द-भेरी बजवाई और अनेक नरनाथों से सनाथ ( सहित ) हो भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए।

प्रभु का धर्मोपदेश हुआ। भगवान् के मुख-चन्द्र से वचन-सुधा की अविरल धारा प्रवाहित हुई। जिसने भी उस सुधा का आस्वादन किया वह अजर-अमर का अधिकारी हो गया। भगवान् ने अपने उपदेश में संसार का तात्त्विक स्वरूप समझाया। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि आत्मा का असली स्वरूप क्या है? वह अपने स्वरूप से च्युत एवं विकृत होकर संसार में क्यों भ्रमण

कर रहा है? आत्मा के साथ कर्मों का क्यों और कैसे बंध होता है? उन बन्धनों से किस प्रकार मुक्ति प्राप्त की जा सकती है? भगवान् के इस मर्मस्पर्शी सदुपदेश का श्रोताओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। अनेकों ने संयम-धारण करने का संकल्प किया और अनेकों ने अनेक प्रकार के व्रत आदि ग्रहण किये।

थावच्चाकुमार पर भी भगवान् के उपदेश का तीव्र प्रभाव हुआ। वह उसी समय संसार से विरक्त हो गया। विषय, विष के समान और सांसारिक सुख, दुःख के समान उसे प्रतीत होने लगे। वह वहां से अपनी माता के पास आया और कहने लगा—

"माताजी, असीम संकट रूपी सलिल से परिपूर्ण इस विकट संसार-सागर में पड़कर मैं क्लेश का पात्र नहीं बनना चाहता। मैं समस्त दुःखों का अंत करने वाली निग्रन्थ-दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ। मैं अपनी आत्मा के उद्धार का यह सुअवसर हाथ से जाने नहीं देना चाहता। अब संसार से मुझे ऐसी विरक्ति हो गई है कि एक-एक पल कल्पकाल के समान जान पड़ता है। अतएव आप कृपा कर शीघ्र ही आज्ञा प्रदान करें— विलम्ब न लगावें।"

माता ने पुत्र के इस प्रस्ताव को कलेजा थाम कर

सुना। उसे मर्मभेदी चोट पहुँची। उसने संयम-मार्ग में आने वाली विविध कठिनाइयों का उल्लेख करके और तरह-तरह के अविचारितरम्य प्रलोभन देकर कुमार के दीक्षा संबंधी संकल्प को स्थगित करना चाहा। परंतु कुमार का संकल्प सुमेरु की तरह अटल था। वह जरा भी चंचल न हुआ। माता का अनुनय वृथा हुआ। तब अंत में उसने अपने पुत्र की दीक्षा की तैयारी करने की समस्त व्यवस्था कर ली।

वह महाराज श्रीकृष्ण के पास जाकर बोली—प्रजा-नाथ! मेरा एकलौता पुत्र है। वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। वह प्रभु का उपदेश सुन संसार से विरक्त हो गया है और संयम धारण करना चाहता है। इससे मुझे अतीव कष्ट हो रहा है। पर विवश हूँ—अनेक प्रकार से समझाने-बुझाने पर भी वह अपने प्रण से विचलित नहीं होता है। यद्यपि मन नहीं मानता फिर भी दीक्षा की तैयारी कर रही हूँ। मुझे आपके छत्र, चँवर वगैरह की आवश्यकता है। इन्हें प्रदानकर अनुग्रह कीजिए।

श्रीकृष्ण ने सान्त्वनापूर्ण शब्दों में कहा—'माता, आप किसी प्रकार का कष्ट न मानें। आप मेरी प्रजा हैं और प्रजा की पीड़ा का प्रतीकार करना पृथिवीपाल का

परम कर्त्तव्य है। मैं आपके प्रिय पुत्र को समझाऊँगा। वह मान गया तो ठीक है अन्यथा मैं स्वयमेव उसकी दीक्षा का महोत्सव करूँगा।'

माता को यह आश्वासन देकर श्रीकृष्ण महाराज उसके पुत्र के समीप आए और बोले—"कुमार, दीक्षा एक उत्कृष्ट आत्मोद्धार का पथ है; पर तुम्हारी आयु अभी उसके योग्य नहीं है। इस समय संसार के सुखों का उपभोग करो। अभी भांति-भांति के भोगोपभोगों को भोगते हुए अपनी भार्याओं का भरणपोषण करो। गृहस्थाश्रम में रहते हुए अपनी माता को संतुष्ट करो। हाँ, मेरे राज्य में रहते हुए यदि तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट हो तो मुझे बताओ। मैं उसका निवारण कर तुम्हें सुखी बनाने का प्रयास करूँगा।"

महाराज श्रीकृष्ण का सहानुभूतिपूर्ण कथन सुन कुमार ने कहा—'महाराज! मैं अत्यन्त आभारी हूँ कि आपने मेरी चिन्ता दूर कर दी है। सचमुच मुझे बहुत कष्ट हैं और इन्हीं कष्टों से घबड़ाकर मैं संयम का आश्रय लेना चाहता हूँ। आपकी छत्र-छाया में रहते हुए मुझे किसी प्रकार का कष्ट न हो पाए, इसके अतिरिक्त मुझे और क्या चाहिए? नरनाथ, सुनिए मुख्य रूप से दो कष्ट मुझे अतिशय त्रास देते हैं। प्रथम तो यह कि वृद्धावस्था

शीघ्र ही आकर मेरे इस यौवन एवं रूपलावण्य को निगल जाने की ताक में है। और दूसरा कष्ट यह कि मेरे प्राणों का विकट शत्रु काल मुझे अपना कवल बनाने का सबल प्रयत्न कर रहा है। पता नहीं किस समय वह मुझ पर आक्रमण करके मेरा काम तमाम कर देगा। महाराज, आप सब तरह समर्थ हैं। कृपा कर इन शत्रुओं से रक्षा करने की प्रतिज्ञा कीजिए और इन्हें नष्ट कर मेरा कष्ट निवारण कर दीजिए। तत्पश्चात् मैं आप के राज्य में आनन्दपूर्वक विषयोपभोग करूँगा। दीक्षा धारण करने का कभी नाम न लूंगा।'

कुमार की यह युक्तिपूर्ण बात सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—'कुमार, यह मेरी शक्ति के बाहर की बात है। यह कष्ट तो अष्ट कर्मों के नष्ट होने पर ही हट सकते हैं।'

कुमार—'महाराज, मैं इन्हीं कर्मों का संहार करने के लिए अनगार बनना चाहता हूँ। आप इस शुभ समारम्भ में क्यों बाधा डालते हैं?'

श्रीकृष्णजी कुछ समय मौन रहकर बोले—'यदि तुम्हारा यह संकल्प स्थिर है और तुमने इस संबंध में सब बातें खूब सोच-विचार ली हैं तो मैं तुम्हें रोकना नहीं चाहता। मैं स्वयं ही तुम्हारे दीक्षामहोत्सव की व्यवस्था करता हूँ।'

श्रीकृष्ण महाराज यह कहकर राजसभा में आये

और उसी समय उन्होंने घोषणा कर दी कि—थावच्चा-कुमार दीक्षा ले रहा है। उसके साथ जो भी मुमुक्षु दीक्षा धारण करना चाहे उसके परिवार के भरणपोषण करने के लिए मैं तैयार हूँ।

यह घोषणा सुनकर थावच्चाकुमार के साथ दीक्षा धारण करने के लिए १००० पुरुष तैयार हो गए। श्रीकृष्ण महाराज ने उन सबकी दीक्षा का महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया और अत्यंत उत्साह के साथ उन्हें भगवान् नेमिनाथ के पास लाए। भगवान् के सामने उपस्थित होकर दीक्षाभिलाषियों ने अपने-अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण उतारे और साधु का पुनीत वेष धारण कर दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। भगवान् ने उन्हें निर्ग्रन्थ दीक्षा से दीक्षित किया और संयम के नियमोपनियम भली-भांति समझाकर उन्हें दृढ़तापूर्वक पालन करने का आदेश दिया।

महाराज श्रीकृष्ण और सेठानी वापस लौट आए। थावर्चाकुमार ने भगवान् की सेवा में रहकर निरंतर अध्ययन, चिन्तन और मनन करके १४ पूर्व का ज्ञान सम्पादन किया और अनेक प्रकार की तपस्या करते हुए संयम की विशिष्ट साधना करने लगे।

एक बार थावच्चाकुमार मुनि ने पृथक् विहार करने

की इच्छा प्रदर्शित कर भगवान् से आज्ञा मांगी। प्रभु ने कहा—जिससे सुख हो वही करो।

भगवान् के इन संक्षिप्त और स्वीकृतिसूचक शब्दों को सुनकर थावर्च्चाकुमार मुनि अपने शिष्यों के साथ विहार के लिए निकले। उन्होंने अनेक ग्रामों एवं नगरों आदि में विहार कर पथभ्रष्ट जीवों को सन्मार्ग बताया, अज्ञान जनों को ज्ञान दान दिया, धर्म का उद्योत किया और अनेक भव्य जीवों को मुक्ति के मार्ग में लगा दिया। इस प्रकार मंगलमय धर्म का मर्म मुमुक्षुओं को समझाते हुए मुनिराज सेलगपुर नामक नगर के सुभूमि नामक बगीचे में आए। राजा सेलग वहां न्याय-नीति से प्रजा का शासन कर रहा था। उसकी महारानी का नाम पद्मावती था। ज्येष्ठपुत्र मण्डूक युवराज पद से विभूषित था। महाराज का पंथक नामक प्रधानमंत्री, राजनीति में निपुण और धार्मिक था।

मुनि के शुभागमन का वृत्तान्त सुन राजा अपने मंत्रियों के साथ धर्मदेशना सुनने गया। मुनि महाराज ने धर्म का सुन्दर उपदेश दिया जिसे सुनकर राजा अत्यन्त आह्लादित हुआ। उसने मुनिराज से प्रार्थना की—गुरुदेव, मैं कुछ व्रत-नियम ग्रहण करने की अभिलाषा रखता हूँ; किन्तु साधु दीक्षा ग्रहण करने में असमर्थ

हूँ। अतएव अनुग्रह करके मुझे श्रावकव्रत प्रदान करें। मुनिराज ने उन्हें श्रावक के व्रत प्रदान किये। साथ-साथ में पंथक वगैरह पाँचसौ राजकर्मचारियों ने भी श्रावक व्रत धारण किया।

उसी समय सौगान्धिक नामक एक और प्रसिद्ध नगर था। उस नगर में सुदर्शन नामक सेठ रहता था। वह अपरिमित सम्पत्ति का स्वामी और नामी था। उसे 'नगर सेठ' का प्रतिष्ठित पद राज्य की ओर से प्राप्त था। वह बहुत सरल स्वभावी और दयालु था।

उसी समय सुक नामक एक प्रसिद्ध, चारों वेदों के ज्ञाता और सांख्य मत के उपासक सन्यासी अपनी शिष्य-मंडली समेत अनेक नगरों में भ्रमण करते हुए और पंच यत्र नियम से युक्त शुचि धर्म, दान धर्म तीर्थाभिषेक आदि का उपदेश करते हुए सौगंधिक नगर में पधारे। उनका आगमन सुनकर सांख्य मतानुयायी उपदेश सुनने को पहुँचे। सुदर्शन सेठ भी उनका उपदेश सुनने को गए। सन्यासीजी ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा– "हे सुदर्शन, समस्त धर्मों में शुचिधर्म प्रधान धर्म है। शुचि दो प्रकार की है, ( १ ) द्रव्य शुचि ( २ ) भाव शुचि। मिट्टी और पानी से जो शुचि की जाती है उसे द्रव्य शुचि कहते हैं। यदि किसी प्रकार की बाह्य अशुद्धि हो जाती है तो उसकी

शुचि पानी और मिट्टी के द्वारा कर.गी जाती है। इसी प्रकार जलाभिषेक आदि से आत्मा पवित्र होकर स्वर्ग को प्राप्त करता है।"

सन्यासी के इस उपदेश को सुनकर सुदर्शन सेठ बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उनके समीप सांख्य मत को धारण किया। बड़ी श्रद्धा से सन्यासीजी को अपने घर ले गया और उसने श्रद्धापूर्वक भोजन पान आदि से उन का उचित आदर-सत्कार किया। सन्यासीजी कुछ समय तक ठहर कर प्रस्थान कर गए।

तदनन्तर मुनिराज विहार करते हुए अपने शिष्य-समुदाय के साथ सौगंधिक नगर में पहुँचे। नगर की धर्म प्रिय जनता उनकी धर्मदेशना श्रवण करने के लिए उमड़ पड़ी। सांख्यमतावलम्बी सुदर्शन सेठ भी मुनिराज का उपदेश सुनने गया।

एक सांख्यमतावलम्बी का जैन मुनि के उपदेश को सुनने के लिए जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जो सच्चा मुमुक्षु है वह सदा सत्य का अन्वेषण करता रहता है। जब तक उसे परम सत्य की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक वह अपने परिश्रम से कभी विश्रांत नहीं होता। वह शांति के साथ विविध मन्तव्यों को श्रवण करता है और विवेक की कसौटी पर उन्हें कसता है। आत्मकल्याण की कामना

करनेवाला पुरुष मतसंबंधी मोह के पाश से मुक्त होता है। सत्य जहां कहीं हो वहीं उसे ग्रहण करता है। पंथ के पंक में पड़ा हुआ पुरुष परम सत्य के पथ से पतित हो जाता है। सुदर्शन सेठ सच्चा सत्यान्वेषी था। वह जिस पथ पर चल रहा था उससे उसका हृदय संतुष्ट न था। अतएव वह एक जैन मुनि के धर्मोपदेश को श्रवण करने के हेतु गया और उस उपदेश में उसे वह मिल गया जिसके लिए वह लालायित था। फिर भी उसने अपनी शंकाओं का विशेष रूप से निराकरण करने के लिए उपदेश के अन्त में मुनिराज से पूछा —

"महाराज, आप का मूल धर्म क्या है?" मुनि महाराज ने उत्तर दिया, "सुदर्शन! हमारा धर्म विनयमूल है और विनय दो प्रकार का है; एक तो श्रावक विनय और दूसरा साधु विनय।" श्रावक का विनय (धर्म) पांच अणुव्रत और सप्त शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का है। वह स्थूल रूप से एक देश हिंसादिक पापों का त्याग करता है।

साधु धर्म पंच महाव्रत रूप है। साधु मन, वचन और काय से हिंसा नहीं करते, असत्य भाषण नहीं करते, किसी का द्रव्यहरण नहीं करते, काम सेवन नहीं करते और परिग्रह नहीं रखते।

इस प्रकार दो भेद स्वरूप विनय धर्म है। इन दोनों प्रकार के विनयमूल धर्म के पालन से जीव क्रमशः कर्मों का चय कर मुक्ति प्राप्त करता है। जन्म, मरण के दुःखों से सदैव के लिए छुटकारा पाकर सिद्ध परमात्मा बन जाता है।

इस प्रकार श्रावक और साधुधर्म को विस्तृत रूप से समझाते हुए मुनि महाराज ने सुदर्शन से पूछा, "हे सुदर्शन, तेरा धर्म क्या है?" सुदर्शन ने उत्तर देते हुए कहा, "महाराज, मेरा धर्म शुचिमूलक है और शुचि तीर्थस्नान तथा जलाभिषेक आदि से होती है।" सुदर्शन के इस प्रकार शुचिधर्म को सुनकर मुनि महाराज ने कहा, "सुदर्शन! इस प्रकार जलादिक से तो केवल व्यवहार में शरीर-शुद्धि हो सकती है, आत्मा का मैल-क्रोधादि कषाय-ऐसे शुचिधर्म से दूर नहीं हो सकते। जिस प्रकार रुधिर का कपड़ा रुधिर से साफ नहीं हो सकता, उसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, ममत्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि करते हुए केवल जलाभिषेक रूप शुचि से आत्मा कभी निर्मल नहीं हो सकता। आत्मा को पवित्र बनाने के लिए तो श्रावक धर्म और साधु धर्म का पालन करना पड़ेगा। तभी इस आत्मा का कषायादिक मैल दूर हो सकता है और आत्मा शुद्ध हो सकता है।"

मुनि महाराज द्वारा कहे गए इस उपदेश का सुदर्शन के हृदय पर बहुत ही प्रभाव पड़ा। उसने उनके द्वारा श्रावक धर्म को विशेष रूप से सुनकर और जैनधर्म की अलौकिकता पर मुग्ध होकर गृहस्थ धर्म को अंगीकार किया।

कुछ समय पश्चात् उन्हीं सन्यासी को सुदर्शन के जैन धर्म स्वीकार कर लेने का समाचार प्राप्त हुआ। वह उसे पुनः अपने धर्म में दृढ़ करने के लिए अपनी शिष्य-मंडली सहित सौगन्ध की नगरी में आया और सुदर्शन को प्रतिबोधित करने के लिए उसने सुदर्शन के मकान की ओर प्रस्थान किया। सन्यासी को अपनी ओर आते देखकर भी न तो सुदर्शन उनके स्वागतार्थ सन्मुख गया और न किसी प्रकार का सत्कार तथा वंदन ही किया। तब सन्यासीजी स्वयं उसके घर आये और बोले, "हे सुदर्शन! तूने शुचि धर्म जैसे उत्तम धर्म को त्याग कर विनय मूल धर्म कैसे स्वीकार कर लिया?" सुदर्शन ने उत्तर दिया—"सन्यासी जी, यहां पर थावर्चा मुनि पधारे थे जिन्होंने अपने उपदेश में बतलाया कि जलादिक से आत्मा के पापों की शुद्धि कभी नहीं हो सकती। आत्म-शुद्धि तो अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि कार्यों से ही हो सकती है। वास्तव में उनका यह कथन बिल्कुल सत्य है, इसीलिए मैंने उनके इस कथन को स्वीकार कर जैन धर्म ग्रहण किया है।" यह सुनकर सन्या-

सी ने कहा—"अच्छा, तुम्हारे वह साधु कहां हैं ?" इसके उत्तर में सुदर्शन ने कहा, "अभी वह यहीं पर विराजमान हैं।" तब सन्यासी ने कहा—"अच्छा, मैं तेरे उन साधु के पास चलकर उनसे वादविवाद करूँगा, उनसे, न्याय मीमांसा, सांख्य आदि विषयों पर प्रश्नोत्तर करूँगा, और उन्हें पराजित करूँगा। यदि वे मेरे प्रश्नों का समुचित रूप से उत्तर दे सकेंगे तो मैं उनका शिष्य बन जाऊँगा।" इस प्रकार कह कर सुदर्शन को साथ ले वह थावर्चा मुनि के समीप पहुँचा। वहाँ पहुंचते ही सन्यासी ने निम्न प्रकार प्रश्न करना आरम्भ किया।

सन्यासी—मुनिजी, तुम्हारे धर्म में कौनसी यात्रा है? क्या यज्ञ है? क्या अव्याबाध है? क्या प्रासुक विहार है?

मुनि—सन्यासीजी! हमारे धर्म में यात्रा, यज्ञ, अव्याबाध, प्रासुक विहार सब कुछ है।

सन्यासी—तुम्हारे धर्म में जो यज्ञ यात्रादि हैं वे कौनसे हैं? उनका स्पष्टीकरण करें।

मुनि—सन्यासीजी! ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम में यत्न रखना ही हमारे धर्म में यात्रा है अर्थात् सम्यक् ज्ञान-पूर्वक सम्यक् श्रद्धा से सम्यक्चारित्र में रमण करना ही यात्रा है।

सन्यासी—यज्ञ कौनसा है?

मुनि—यज्ञ दो प्रकार के हैं–एक तो इन्द्रिय यज्ञ और दूसरा नो इन्द्रिय यज्ञ। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श इन्द्रिय के राग द्वेष उत्पादक विषय का दमन करने को इन्द्रिय यज्ञ कहा है और क्रोध, मान, माया, लोभ के नष्ट करने को नो इन्द्रिय यज्ञ कहा है।

सन्यासी—मुनिजी, अव्याबाध किसे कहते हैं ?

मुनि—सन्यासीजी, वात, पित्त, कफ, सन्निपात आदि रोगों का जब तक प्रकोप नहीं होता तब तक शारीरिक अव्याबाध है और सर्व कर्म नष्ट होने पर प्राप्त हुआ अबाध सुख आत्मिक अव्याबाध है। इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक और पौद्गलिक है। उसे ही पूर्ण रूप से अव्याबाध आत्मिक सुख मान लेना मिथ्या कल्पना है। इससे आत्मा के मुक्त होने में बाधा उपस्थित हो जाती है; इसलिए वास्तविक अव्याबाध कर्म रहित मोक्ष सुख ही है।

सन्यासी—मुनिजी, प्रासुक विहार किसे कहते हैं ?

मुनि—सन्यासीजी, बाग-बगीचों के मकानों में अथवा शून्य अनैमित्तिक गृहों में स्त्री, नपुंसक, पशु आदि के संसर्ग से रहित निवास करने को प्रासुक विहार कहते हैं।

सन्यासी—मुनिजी, 'सरि सवया' खाने योग्य है या नहीं ?

मुनि—सरि सवया दो प्रकार के हैं—भक्ष्य और

अभक्ष्य।

सन्यासी—सो कैसे ?

मुनि—एक तो मित्र सरि सवया ( मित्र सदृश-वया, बराबर उम्र का ) और दूसरे धएण सरिस वया ( धान्य सरसव—सरसौं )। मित्र सदृश वया तीन प्रकार के हैं।

( १ ) साथ उत्पन्न हुए ( २ ) साथ में बढ़े हुए ( ३ ) साथ में खेले हुए। ये सब अभक्ष्य हैं।

धान्य सब दो प्रकार के हैं–

( १ ) सचित्त सरसव—जीव सहित

( २ ) अचित्त—जीव रहित

इनमें से सचित्त तो अभक्ष्य हैं और अचित्त दो प्रकार के हैं—

( १ ) प्रासुक–साधु के निमित्त नहीं बनाया हुआ।

( २ ) अप्रासुक–साधु के लिए बनाया हुआ।

इनमें से अप्रासुक–अभक्ष्य है। प्रासुक दो प्रकार का है।

( १ ) याचना करने पर दिया हुआ।

( २ ) याचना बिना दिया हुआ।

याचना करने पर दिये हुए एषणिक और अनेषणिक दो प्रकार के हैं। इनमें से अनेषणिक अभक्ष्य हैं। एषणिक के दो भेद हैं—

( १ ) प्राप्त हुए ( २ ) अप्राप्त हुए ।

एषणिक भी यदि प्राप्त न हुए तो किसी प्रयोजन के नहीं । अस्तु वह अभक्ष्य ही हैं । अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से जो एषणिक प्राप्त हो जाय वह भक्ष्य है ।

सन्यासी—मुनिजी, कुलत्थ कितने प्रकार का है ?

मुनि—सन्यासीजी, कुलत्थ दो प्रकार का है । एक—* स्त्री कुलत्थ और दूसरा धान्य कुलत्थ ।

स्त्री कुलत्थ तीन प्रकार का है–( १ ) कुल वधू (२) कुल माता ( ३ ) कुलबेटी ।

इसके पश्चात् सन्यासी ने मुनिजी से पुनः मास संबंधी प्रश्न किया । उत्तर में मुनिजी ने कहा, 'मास तीन प्रकार के हैं—(१) काल मास (२) अर्थ मास (३) धान्य मास । काल मास के बारह भेद हैं–श्रावण, भाद्रपद आदि ये अभक्ष्य हैं । अर्थ मास के दो भेद हैं--हिरण्य मास और सुवर्ण मास । ये भी अभक्ष्य हैं । धान्य विशेष मास (उड़द) सर्षव के समान समझिए ।

इसका समाधान हो जाने पर सन्यासी ने फिर प्रश्न उपस्थित किया, "मुनिजी, आप कौन हैं ? आप एक हैं या दो अथवा अनेक हैं ? अक्षय, अव्यय, अवस्थित अनेक भूतभावित हैं ?" उत्तर में मुनिजी ने कहा—" हे सुकजी,

* कुलत्थ-( १ ) कुलस्थ—जो कुल में रहे ( २ ) धान्य विशेष ।

मैं एक भी हूँ, दो भी हूँ, अनेक भी हूँ। अक्षय, अव्यय एवं अवस्थित भी हूँ और अनेक भूत भाव भावित भी हूँ।"

फिर शुकजी ने प्रश्न किया, "मुनिजी, आप एक, दो और अनेक आदि कैसे हैं ?"

मुनिजी ने उत्तर दिया—आत्मा की अपेक्षा से मैं एक हूँ। ज्ञान, दर्शन की अपेक्षा से मैं दो हूँ, प्रदेशों की अपेक्षा अक्षय, अव्यय, अवस्थित भी हूँ; क्योंकि प्रदेशों का नाश, शास्त्र, अग्नि, जल, विष आदि कोई भी नहीं कर सकते उपयोग की अपेक्षा से अनेक भूत के भावों को जानने वाला भी हूँ।

इस प्रकार प्रश्नोत्तरों से सन्यासी बहुत प्रसन्न हुए। सन्यासीजी का उद्देश्य मुनि महाराज को प्रश्नों के चक्कर में डालकर किसी प्रकार से पराजित करने का था; किन्तु जिस के पास प्रतिभा और सत्य है वह कभी पराजित नहीं हो सकता।

मुनि महाराज की सत्यता का सन्यासी पर बड़ा विलक्षण प्रभाव पड़ा। उसका हृदय मुनि की भक्ति से भर गया। उनके सत्य ज्ञान से प्रबोधित होकर उन्हें विनयपूर्वक नमस्कार कर बोले—" महाराज, आपने मेरे हृदय के अन्धकार को दूर कर मेरे नेत्र खोल दिये। अब केवली-प्ररूपित सिद्धान्त का उपदेश देकर मेरे हृदय

प्रमाद-ग्रसित श्री शेलक राजर्षि को उनके सुयोग्य शिष्य श्री पन्थक मुनि आवश्यक-क्रिया के लिए वन्दन कर रहे हैं।

चित्र केवल परिचयार्थ

को तृप्त कीजिए।" थावच्चा मुनि ने सन्यासी को प्रति-बोधित हुआ देखकर जैन सिद्धान्त के अनुसार श्रावक धर्म और मुनि धर्म का विशद रूप से विवेचन किया। मुनिराज के धर्मोपदेश को सुनकर उनका हृदय आनन्द की लहरों से लहराने लगा। उनकी आत्मा में आनन्द का प्रवाह बहने लगा। उनका हृदय जैन धर्म की भक्ति से भर गया। वे अपने भावों को न रोक सके और बोले—"महाराज, आप के उपदेश से मेरा मन जैन धर्म की श्रद्धा से भर गया है। मुझे ज्ञात हो गया है कि आत्मा का सच्चा हित करनेवाला केवल जैन धर्म ही है। इसीके द्वारा मनुष्य दुःख से छुटकारा पाकर सच्चे सुख को प्राप्त कर सकते हैं। स्वामिन्, मैं भी जैन धर्म की शरण में रह कर आत्मकल्याण करना चाहता हूँ। कृपया, मेरी शिष्य - मंडली समेत मुझे संयम की दीक्षा दीजिए। यह प्रार्थना सुनकर मुनि महाराज ने उन्हें संयम की दीक्षा दी। दीक्षा लेने के पश्चात् सुक मुनि ने ज्ञान का पूर्ण संलग्नता से अभ्यास किया और चौदह पूर्व तक का पठन कर लिया।

थावच्चा मुनि ने कुछ काल तक धर्मोपदेश देते हुए अपने संयमी जीवन को ज्ञान, ध्यान और तपश्चरण में मग्न रक्खा और अन्त में मुनियों के साथ पुण्डरीक पर्वत पर समाधिमरण धारण कर अष्ट कर्मों का नाश करते हुए

मोक्ष को प्राप्त किया।

एक समय सुक मुनि अनेक नगरों में विहार करते हुए सेलगपुर पधारे। उन्होंने जैन धर्म का गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया जिसे सुनकर राजा सेलग के हृदय में वैराग्य-भाव उत्पन्न हुए। उन्होंने अपनी राजसभा में आकर अपने प्रधान मंत्री पंथक तथा ४९९ सहमंत्रियों पर अपने भाव प्रकट किए। राजा के वास्तविक हित के अनुकूल परामर्श देना मंत्री का कर्त्तव्य है। जो मंत्री किसी प्रकार के स्वार्थ या पक्षपात अथवा अन्य किसी कारण के वश होकर अपने स्वामी को उचित परामर्श नहीं देता वह विश्वासघाती कहलाता है। राजा सेलग के मंत्री न्यायानिष्ठ और उचित-अनुचित के विवेकी थे। उन्होंने राजा के विचारों का अनुमोदन करते हुए कहा—'महाराज, आपका विचार सराहनीय है। हम लोग भी आपके साथ ही निर्ग्रंथ-दीक्षा धारण कर इस प्रपंचमय जीवन का परित्याग कर एकान्त शांति और अध्यात्म जीवन को अपनाना चाहते हैं।'

इस प्रकार मंत्रियों का अनुमोदन पाकर राजा सेलग ने अपने पुत्र मंडूक को पास बुलाया और कहा—बेटा, संसार के इस रंगमंच पर मैंने पर्याप्त समय तक अभिनय किया है। अब मैं इससे उकता गया हूँ और विश्रान्ति लेना चाहता हूँ। संसार में पुत्र, पिता का प्रतिनिधि माना जाता

है; अतएव तुम मेरे एक तरह से प्रतिनिधि या उत्तराधिकारी हो। योग्य पुत्र का यह कर्त्तव्य ही है कि वह वयस्क होकर पिता का भार अपने कंधों पर धारण करे और पिता को जीवन के एक महान् उच्च उद्देश की सिद्धि के लिए निश्चिंत अवसर प्रदान करे। मैंने तुम्हें सब प्रकार से योग्य बनाने का प्रयत्न किया है। तुम मेरे भार को संभालो। मुझे छुट्टी दो। मैं इस राज्य को परित्याग कर दूसरे राज्य की प्राप्ति के लिए आत्मा में छिपे हुए अत्यन्त भयंकर और प्रबल रिपुओं से युद्ध ठानूंगा। मेरा वह राज्य असीम और अनंत होगा। उसमें एकांत सुख ही सुख है। वही राज्य आत्मा का स्वरूप है। तुम न्याय से प्रजा का पुत्रवत् पालन करना। दुखियों के दुःख को दूर करना। ऐश्वर्य पाकर भी अपने को ऐसी स्थिति में रखना कि दीन जनों की हालत को तुम भली-भाँति अनुभव कर सको। राज-मद में मत्त न बन जाना और अपने पूर्वजों की कीर्तिपताका को सदा की भाँति फहराते रहना। स्मरण रखना, प्रजा का सच्चा स्वामी वही हो सकता है जो प्रजा का सच्चा दास बनता है।

इस प्रकार प्रासंगिक उपदेश देने के बाद आनन्द के साथ उसका राज्याभिषेक कर दिया।

पुत्र ने पिता के पवित्र मनोरथ पर पानी फेरना उचित

न समझा। उसने प्रसन्नतापूर्वक आत्मकल्याण में प्रवृत्त होने की अनुमति दे दी। अत्यन्त समारोह के साथ उसने पिता के दीक्षा-महोत्सव की तैयारी की। राजा सेलग ने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की और मुनि के मूल और उत्तर गुणों का सावधानी से पालन करने लगे। निरन्तर ज्ञानोपार्जन में संलग्न रह कर उन्होंने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया और तीव्र तपश्चर्या एवं गुरु भक्ति करते हुए संयम में विचरने लगे।

कुछ समय के पश्चात् सुक मुनि ने अपना अन्तिम समय आया जान कर पुण्डरीक पर्वत पर संथारा धारण किया और आत्मध्यान में निमग्न हो, समस्त कर्मों का समूल नाश कर मुक्ति प्राप्त की।

राजर्षि सेलग कठोर तपश्चरण में तल्लीन रहते थे। रूखा-सूखा, जैसा भी भोजन मिलता उसे समतापूर्वक ग्रहण करते थे। शयन और आसन के लिए कँकरीली-पथरीली जैसी जमीन मिलती उसी पर संतोष करते थे। इस प्रकार उन्होंने समस्त इन्द्रियों को अपने अधीन कर लिया था। किंतु इस तीव्रतर तपश्चर्या के कारण, राजसुख की गोद में पला हुआ उनका सुकोमल शरीर स्वस्थ न रह सका। उन्हें पित्त ज्वर और खुजली का रोग हो गया। राजर्षि ने शरीर की इन वेदनाओं की परवा न की। वे आत्मा और शरीर

के विवेक को भलीभांति अवगत कर चुके थे। आत्मा में निरन्तर लीन रहते थे। शरीर को सँभालने का उन्हें अवकाश ही न था। अतएव वे शरीर के प्रति उपेक्षा भाव रखते हुए अनेक ग्रामों एवं नगरों में विहार करते हुए अहिंसा-धर्म का प्रबल प्रचार करने लगे। उनके संयम की साधना में कुछ भी बाधा उपस्थित न हुई। विहार करते-करते वे एक बार सेलगपुर पधारे।

राजर्षि के शुभागमन का संवाद बात की बात में विद्युत्गति से नगर भर में फैल गया। नगर की समस्त जनता अतीव भक्तिभाव से उनके धर्मोपदेश को श्रवण करने एवं दर्शन से जीवन को सफल बनाने के लिए पहुँची। राजा मण्डूक भी राजर्षि की सेवा में पहुँचे। धर्मदेशना सुनने के अनन्तर रोग-पीड़ित शरीर को देखकर बोले— मुनिवर! आप अनुग्रह कर नगर में पधारिये, जिससे आप के इन वेदनाप्रद रोगों की चिकित्सा हो सके। शरीर, धर्म का एक साधन है। इसके अस्वस्थ होने से धार्मिक कार्यों में भी विघ्न पड़ता है। हम लोग आपकी यत्-किञ्चित् सेवा करके ही अपना अहोभाग्य समझेंगे। कृपया इस प्रार्थना को अंगीकार कर उपकृत कीजिए।

राजा मण्डूक की आग्रहपूर्ण अभ्यर्थना स्वीकार कर मुनिराज ने नगर में प्रवेश किया। नगर में उनका उचित

शिष्य पंथक हूँ। चातुर्मासिक प्रतिक्रमण की अभिलाषा से क्षमाने के लिए श्रीमान् की सेवा में उपस्थित हुआ था। कृपया मेरा अपराध क्षमा कीजिए। अब कदापि ऐसी भूल न करूँगा।" शिष्य के विनय, शांति आदि गुणों का गुरु के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। पल भर में ही उनकी आत्मा में विलक्षण परिवर्त्तन हो गया। वह सोचने लगे— 'अहा! विशाल राज्य का परित्याग कर मैंने मुनि के महान् गौरवपूर्ण पद को धारण किया है इतने दिनों तक मैंने तपश्चर्या कर साधुत्व को भली भांति निभाया भी था; किन्तु खेद है कि अब पुनः सांसारिक प्रलोभनों ने मेरे हृदय पर अधिकार कर लिया है। हाय! मैं लुट गया, मेरी चारित्र-सम्पदा नष्ट हो गई। जीवन का यह महत्व-पूर्ण अंश निरर्थक व्यतीत हो गया। मुझे धिक्कार है जो राजर्षि कहला कर भी इस प्रकार का जघन्य कृत्य कर रहा हूं।' इस प्रकार सेलग मुनि को अपने पतन पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। पाश्चात्ताप की इस आग में उनका मन का सारा मल भस्म हो गया। उन्होंने अपने इस दुराचार के लिए प्रायश्चित्त लेने का संकल्प कर लिया।

प्रातःकाल होते ही राजर्षि ने मण्डूक राजा का मकान तथा अन्य वस्तुएँ सँभला कर पंथक मुनि के साथ वहां से विहार कर दिया। उन्होंने अपने शैथिल्य के लिए घोर
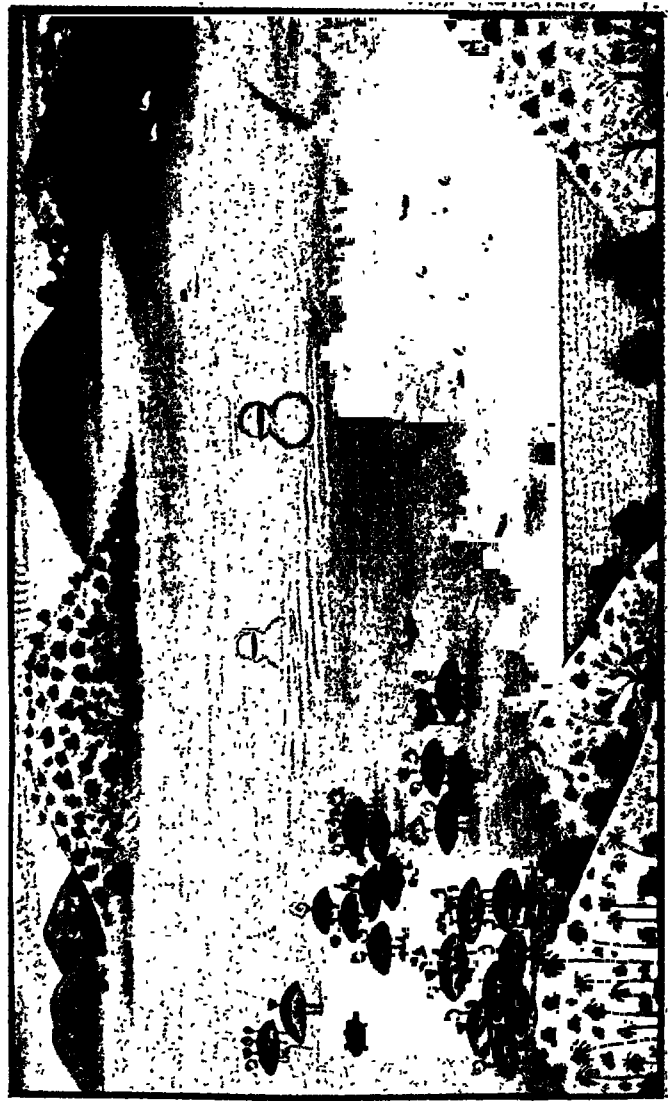
समुद्रमें एक तूम्बी तो मिट्टी और सनकी रस्सीके बन्धन आदि से विमुक्त होनेके कारण जलकी सतह पर तैर रही है। और दूसरी तूम्बी मिट्टी रस्सी आदि के बन्धनों से संयुक्त होनेके कारण जलमें डूबी जा रही है।

प्रायश्चित्त लिया और पूर्ववत् धर्म का प्रचार करते हुए वि-चरने लगे।

अन्य शिष्यों को जब राजर्षि के इस परिवर्तन का हाल मालूम हुआ तो वे भी विनयपूर्वक उनकी सेवा में उपस्थित हुए और उनकी आज्ञा में विचरने लगे।

राजर्षि सेलग ने बहुत समय तक अनेक ग्राम-नगरों में विहार कर जनता को धर्म का मर्म समझाते हुए मुक्ति के मार्ग में लगाया। अन्त में पुण्डरीक पर्वत पर समाधि धा-रण कर सर्वोत्तम और शाश्वत पद को प्राप्त किया।

## उपसंहार

सेलग ऋषि राज्यवैभव का परित्याग कर मुनिपद धारण करने पर भी आचार में शिथिल पड़ गए। पर अंत में अपने सुविनीत शिष्य के कारण वे सँभल गए और पुनः अपने कर्त्तव्य में पूर्ववत् तत्पर होकर सिद्धि को प्राप्त हुए।

वास्तव में जो संसार के वैभव को ठुकराकर अनगार और अकिंचन बनते हैं वे ही यदि पुनः त्यागे हुए को ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो जाएँ तो उनके दोनों लोक बिगड़ जाते हैं। इस लोक में उन्हें लोक हँसाई सहनी पड़ती है और परलोक में भयंकर यातनाएँ भुगतनी पड़-ती हैं। सेलग ऋषि यदि अन्त में सँभल न गए होते तो

उन्हें दुर्गतियों में भ्रमण करना पड़ता। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह सम्पूर्ण चारित्र को ग्रहण करने से पूर्व उसकी कठिनाइयों को भलीभाँति समझ ले। उसे यह भी समझ लेना चाहिए कि वह अपने ऊपर एक महान् उत्तरदायित्व का भार ले रहा है और ऐसे उत्तरदायित्व को जो जीवनपर्यन्त निभाना पड़ेगा। एकान्त निश्चय से सर्वस्वत्याग का जो प्रण किया जाय उसे प्राणों की उपेक्षा करके भी पालन करना परम कर्त्तव्य है। प्राणों के त्राण की अपेक्षा प्रण-पालन करना ही श्रेष्ठ है।

इसके अतिरिक्त इस उदाहरण से यह भी ज्ञात होता है कि उपशान्त हुए कर्म अवसर पाकर पुनः आक्रमण कर बैठते हैं। अतएव जो साधक महानुभाव कर्मों से युद्ध ठान कर और मोक्ष रूपी समृद्ध साम्राज्य का सुखोपभोग करने के अभिलाषी बन कर निरन्तर प्रयत्न-परायण रहते हैं उन्हें अत्यन्त सावधान रहना चाहिए और बारीक नज़र से आत्म निरीक्षण करते रहना चाहिए। जो साधक अपने मनो व्यापारों का सूक्ष्म अवलोकन करता है उसके पतन की बहुत कम संभावना होती है।

## छठा अध्याय

लगभग चौवीस सौ वर्ष पहले इसी भरत खंड में राजगृही नामक प्रसिद्ध नगरी थी। महाराज श्रेणिक वहां के सम्राट थे। जैन धर्म पर उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। वे बड़े न्यायशील और धर्मपरायण थे। इनका विशेष उल्लेख पहले अध्याय में किया जा चुका है।

अहिंसा-धर्म की दुंदुभि बजाते हुए श्रमणोत्तम भगवान् महावीर एक बार राजगृही नगरी में पधारे। उनके आगमन का वृत्तान्त जानकर राजगृही-वासियों के हर्ष का पार न रहा। जनता भगवान् का सदुपदेश श्रवण करने के लिए लालायित हो उठी और अत्यन्त भक्तिभाव के साथ उनके दर्शन करने के लिए पहुँची।

महाराज श्रेणिक ऐसे अमूल्य अवसर को कैसे हाथ से जाने देते ? वे भी सपरिकर भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए। यथायोग्य वन्दना-नमस्कार आदि क्रियाएँ कर उन्होंने उपदेश सुना। उपदेश अत्यन्त गंभीर, रोचक और मर्म-स्पर्शी था। भगवान् की अतिशयपूर्ण भाषा को सब प्रान्तों के नर-नारी इतनी अच्छी तरह समझ लेते थे, मानों भगवान् उन्हीं की भाषा बोल रहे हों।

इसी समय भगवान् के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी ने उनसे नम्रतापूर्वक पूछा—'प्रभो ! आत्मा हलकी, कर्म-रहित, अल्प कर्मवाली अथवा सघन कर्मवाली कैसे बनती है ?'

प्रश्न का समाधान करते हुए प्रभु ने कहा—गौतम ! जैसे कोई सूखे तूंबे को कुश से लपेट कर उस पर मिट्टी का लेप कर के धूप में सुखावे और इसी तरह पुनः पुनः आठ बार करे तो वह तूंबा भारी हो जाता है और पानी में डालने से पानी की तह तक पहुँच कर वहीं ठहर जाता है, इसी प्रकार यह आत्मा भी हिंसा, असत्य, चौर्य, व्यभिचार, ममत्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, लड़ाई, चुगली, परापवाद, खेद, स्नेह, मिथ्यात्व आदि पापों के कारण उत्पन्न होने वाली कर्म की आठ प्रकृतियों के लेप से भारी होकर अधोगति में जाती है। और जैसे पानी में पड़े रहने के कारण तूंबे के बन्धन-

लेप शनैः शनैः सड़ते-सड़ते दूर हो जाते हैं और तूंबा हलका होकर पानी पर उतराने लगता है, वैसे ही जप, तप, संयम व्रत, स्वाध्याय, ध्यान आदि की शक्ति से आठ कर्म-प्रकृतियाँ ज्यों-ज्यों नष्ट होती जाती हैं त्यों-त्यों आत्मा अधोगति से निकल कर उच्च गति को प्राप्त होती जाती है। इस प्रकार जब समस्त कर्मों का विनाश हो जाता है तब सर्वथा बन्धनहीन होकर ऊर्ध्वलोक में अवस्थित हो जाती है।

प्रभु के इस सरल पर युक्तियुक्त समाधान से समस्त श्रोताओं को आत्मा के बन्धन और मुक्ति का मर्म मालूम हुआ। सब लोग अत्यन्त प्रसन्न होते हुए अपने-अपने स्थानों पर लौट गए।

## उपसंहार

कर्मों के बन्धन से भारी होकर आत्मा चौरासी के चक्कर में पड़ती है—चौरासी लाख जीवयोनियों में भ्रमण कर नाना प्रकार की व्याधियों का आश्रय बनती है। वह कभी नरक गति की और कभी तिर्यञ्च गति की अतिथि बनती है। कभी-कभी मनुष्य और देवगति भी उसे मिलती है। इस उन्नत और अवनत अवस्थाओं में घूमते-घूमते इसे अनन्त काल हो गया है। मगर कर्मों के पाश में आबद्ध

है। उसमें लाभ और हानि का जोड़ा है।

धन्ना सार्थवाह बड़े दयालु, परोपकारी और लोक-हितैषी थे। जो गृहस्थ पूंजीहीन होने के कारण व्यापार न कर सकते थे उन्हें पूंजी देकर वे व्यापार में लगा देते थे। वे सदा दीनहीन जनों की यथोचित सहायता किया करते थे।

वे विदेश में व्यापार करने जाया करते थे और अपने साथ अनेक निर्धन व्यक्तियों को ले जाते थे। वही उनके स्थान-भोजन आदि की व्यवस्था और व्यय करते थे तथा द्रव्यप्राप्ति कराते थे। वे निर्धनों, असहायों और निर्बलों के अद्वितीय आश्रयदाता थे। इन्हीं सब उदार सद्गुणों के कारण उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।

धन्ना सार्थवाह की पत्नी का नाम भद्रा था। वह स्वभावतः भद्रा, सुशीला, पतिव्रतपरायण और गृहकार्य में कुशल थी। वह अपरिमित धन की स्वामिनी थी; पर अहंकार उसे छू भी न गया था।

भद्रा ने चार पुत्रों को जन्म दिया था—(१) धनपाल (२) धनदेव (३) धनगोप और (४) धनरक्षित। चारों पुत्रों का युवावस्था आने पर विवाह किया गया था और चारों सुखपूर्वक अपना जीवन-यापन करते थे।

शास्त्रों में एक बात विवाह के संबंध में इस समय के लिए विशेष उल्लेखनीय पाई जाती है। वह यह कि प्राचीन
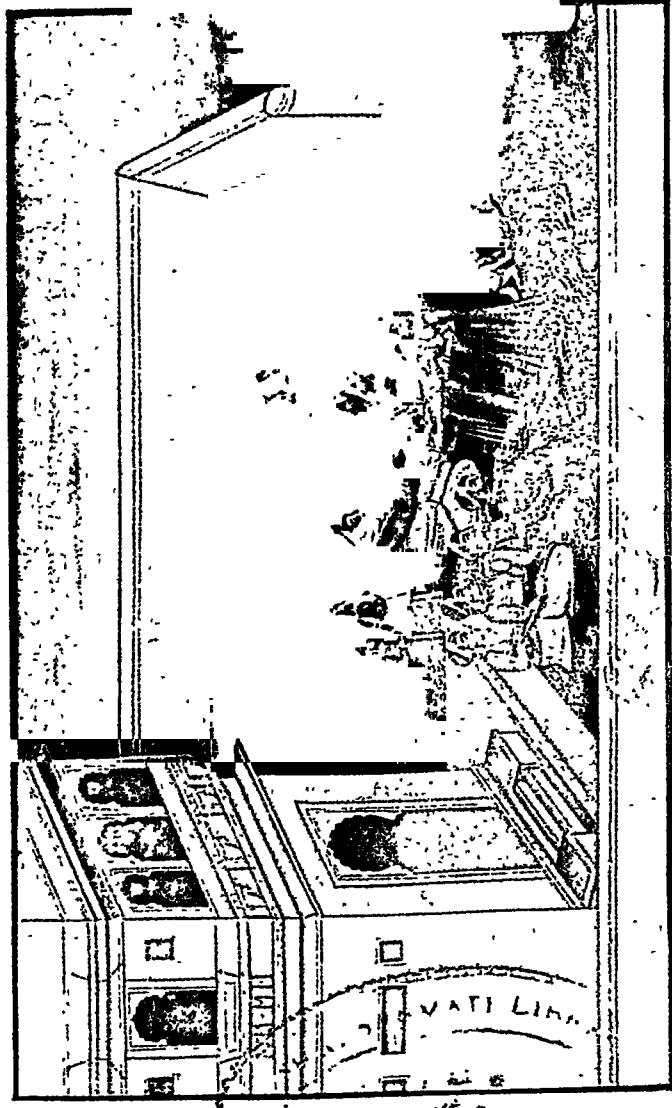
सेठ अपने पुत्रों के सामनेही चारों पुत्र-वधुओंको शाल (धान) पांच-पांच दाने दे कर उनकी बुद्धिमत्ताकी परीक्षा कर रहा है।

काल में कच्ची उम्र में वाल विवाह नहीं होते थे किन्तु युवावस्था आने पर ही विवाह-संबंध हुआ करता था। बाल विवाह अर्वाचीन काल का एक भयङ्कर अभिशाप है जो मानव-समाज के सत्व को खोखला और सौभाग्य को दुर्भाग्य बना रहा है। शरीर पर बाल विवाह का कितना बुरा प्रभाव पड़ता है यह बताने की आवश्यकता नहीं। यह सरल और सीधी-सी बात प्रत्येक विचारशील भलीभांति समझ सकता है। पर बाल विवाह के दुष्परिणाम यहीं तक सीमित नहीं हैं। वे मानव-समाज का नैतिक पतन भी कर रहे हैं और जीवन को भारभूत बना रहे हैं। अनेक ग्रंथों में विवाह का स्वरूप बतलाते हुए आचार्यों ने कहा है—'चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर वरण करना विवाह है।' इस से यह स्पष्ट है कि विवाह के लिए तत्सम्बन्धी चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होना आवश्यक है। पर अत्यन्त अल्पवयस्क बालकों के वैसा चारित्रमोह का उदय ही प्रायः नहीं पाया जाता। तब उनके विवाह को वस्तुतः विवाह ही कहना कठिन है। वास्तव में ऐसे विवाह शरीर, नीति और धर्म से सर्वथा विरुद्ध हैं। अस्तु।

आधी रात का समय था। सारा संसार मोहमयी निद्रा के अंक में छिपा हुआ था। एकाएक धन्ना सार्थवाह की निद्रा भंग हुई। उन्हें विचार आया राजगृही नगरी में मैं

कितना सुखी हूँ ! मेरा घर परिजनों से परिपूर्ण है । अखूट सम्पत्ति का मैं स्वामी हूँ । नगरी में मेरा यथेष्ट सम्मान है। मेरा घराना अत्यन्त प्रामाणिक, प्रतिष्ठित और गौरवपूर्ण माना जाता है । राजदरबार में मेरा सबसे अधिक आदर है, प्रभाव है । मैं देखता हूँ—इस समय मैं सब प्रकार से सुखी और सम्पन्न हूँ। पर कौन जानता है कल क्या होगा ? संसार में प्रतिपल परिवर्त्तन का आवर्त्तन होता रहता है । काल का निरन्तर नर्त्तन, धन, जन, सम्मान आदि में परिवर्त्तन करता रहता है । कोई भी अवस्था क्षणभर भी तो कायम नहीं रहती ! ऐसे प्रतिक्षण-भंगुर संसार पर क्या भरोसा किया जाय ? फिर यह मानव-जीवन भी तो पानी का बुलबुला है, विद्युत् का-सा प्रकाश है। अभी है और अभी नहीं । जीवन के पीछे-पीछे छाया की भाँति मृत्यु लगी रहती है । अवसर मिलते ही वह आक्रमण कर बैठती है । पींजरे का एक द्वार खुलते ही पंछी उड़ जाता है, यहां तो शरीर के अनेक द्वार खुले ही रहते हैं । प्राण-पखेरू का किसी भी क्षण उड़ जाना आश्चर्यजनक नहीं है । आश्चर्य तो उनके ठहरने में ही है । संसार में अब तक कितने महापुरुष अनन्तशक्तिशाली हो चुके हैं, पर उनमें से एक भी जीवित न रह सका ।

धन्ना सेठ विचारने लगे—"यदि मेरे जीवन का अचा-

नक ही अन्त आ गया तो संभव है मेरे पुत्र आदि पारस्परिक कलह करके यशस्वी कुटुम्ब को कलंक लगावें। संभव है महिलाएँ आपस में वैमनस्य और वैर-विरोध करके गृहस्थी को छिन्नभिन्न कर दें और भाई-भाई में मनमुटाव हो जाय। अतएव अपने सामने ही गृहस्थी की भावी व्यवस्था कर देना उचित है।

यह सब न हुआ तो भी मैं परलोक के लिए कुछ भी पूंजी एकत्र न कर सकूँगा और मेरा यह अमूल्य जीवन वृथा ही व्यतीत हो जायगा। मैंने चिन्तामणि को कांच के टुकड़ों के भाव बेच दिया; इस प्रकार का पश्चात्ताप करने के अतिरिक्त और कुछ भी न बन पड़ेगा। अतएव सब व्यवस्था करके मैं भी गृहस्थी के भार से मुक्त हो सकूँगा और आत्मसाधना में समय लगा सकूँगा।"

धन्ना सार्थवाह ने प्रातः काल होते ही नगर के समस्त प्रधान और प्रतिष्ठित पुरुषों को आमंत्रित किया और अशन-पान आदि से उनका यथोचित सत्कार किया। तत्पश्चात् उन्होंने अपनी चारों पुत्र वन्धुओं में से ज्येष्ठ पुत्रवधू उज्झिका को बुलाकर कहा—"बेटी! मैं तुम्हें यह पांच अखंड शालि देता हूँ। इन्हें ले जा और इनकी योग्य रीति से रक्षा एवं वृद्धि करना। मैं जब इन्हें मांगूँ, मुझे वापस लौटाना।"

उज्झिका ने शालि ले तो लिए पर उसे बड़ा आश्चर्य

हुआ। वह सोचने लगी—घर में शालि के ढेर पड़े हैं, फिर इन पांच दानों को देने का क्या मतलब है? कुछ भी हो, इन्हें सम्भालकर रखने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है। जब श्वसुरजी दाने मांगेंगे तो कहीं से भी उठाकर दे दूंगी। अन्त में उज्झिका ने वे दानें फैंक दिये और अपने काम-काज में लग गई।

धन्ना ने दूसरी पुत्रवधू भोगवती को बुलाया। उसे भी दाने तथा उल्लिखित सूचना देकर विदा किया। वह भी उन दानों के देने का कोई विशेष प्रयोजन न समझ सकी। पर श्वसुर की दी हुई भेट को फैंकना उस ने उचित न समझा और छिलके उतार कर प्रेम के साथ उन्हें खा गई।

तीसरी पुत्रवधू रक्षिता को बुला कर उसे भी पांच शालि के दाने दिये गये। उसने सोचा—'यद्यपि इन दानों का कोई विशेष मूल्य नहीं है तथापि विवेकशील श्वसुरजी ने कुछ सोच-समझ कर ही दिये होंगे। इस में कुछ गुप्त रहस्य अवश्य होना चाहिये।' उस ने उन्हें एक रत्न के संदूक में बंद कर रख दिये। वह संदूक उस ने अपने शयनगृह में रखा और सोते समय प्रतिदिन वह उसे सतर्क होकर सँभाल लेती।

सेठजी ने चौथी वधू रोहिणी को बुलाकर उसे भी वही पांच दाने दिये। रोहिणी को इसमें महत्वपूर्ण रहस्य

प्रतीत हुआ। उसने सोचा—'श्वसुरजी की आज्ञा के अनुसार ही मुझे इनकी रक्षा और वृद्धि करना चाहिए।' यह विचार कर उसने एक आदमी के साथ वे दाने अपने मायके भेज दिये और साथ ही कह दिया कि दाने सँभाल कर रखना जब बोने का समय आवे तो पिताजी के खेतों के पास एक छोटी-सी क्यारी में इन्हें बो देना। इनके चारों ओर बाड़ लगाकर होशियारी से इनकी रक्षा और वृद्धि करना।'

स्वामिनी की आज्ञा शिरोधार्य कर सेवक रोहिणी के पिता के घर आया। वर्षा काल आने पर उसने एक छोटी किन्तु सुन्दर क्यारी बनाकर वे दाने बो दिये। पर्याप्त पानी और खाद मिलने से धान खूब बढ़ा। कालक्रम से जब वे सूख गए तो उन्हें काटकर, हाथों से मसल कर उनके शालि बना लिए। उनसे जो धान निकला उससे एक 'पाथा' (एक प्रकार का माप) भर गया।

दूसरे साल मौसिम आने पर वे शालि फिर बो दिये गये। इस वर्ष उन से इतना धान्य निकला कि अनेक कूंडे भर गये। इसी प्रकार तीसरे, चौथे और पांचवें वर्ष बोते-बोते इतना धान्य हो गया कि उन मे कई गाड़ियां भर गईं। यह सब धान्य सुरक्षित रूप से जमा कर लिया गया।

पांच वर्ष बीत जाने के बाद धन्ना सार्थवाह ने फिर पूर्ववत् ही अपने इष्ट मित्रों तथा प्रतिष्ठित पुरुषों को आमंत्रण दिया। आज सार्थवाह ने पहले दिये हुए शालि के दानों का पुत्र वधुओं से हिसाब मांगने का निश्चय किया था। अतएव उन्होंने सर्व प्रथम ज्येष्ठ पुत्रवधू को बुलाया और कहा—'बेटी! आज से पांच वर्ष पहले मैंने पांच शालि के दाने दिये थे। अब मुझे उन की आवश्यकता है।'

श्वसुर की बात सुन कर वह गई और शालि से भरे हुए कोठे में से पांच दाने निकाल लाई। सेठजी ने पूछा—'बेटी! सच कहना यह वही दाने हैं जो मैंने तुझे दिये थे या दूसरे हैं?'

उज्झिका ने कहा—'पिताजी, यह आपके दिये हुए नहीं हैं। आपने जो दाने दिये थे उन्हें कब तक सँभालती! वे दाने तो मैंने उसी समय फैंक दिये थे। यह तो अभी कोठे में से निकाल कर लाई हूं।'

पुत्रवधू का यह उत्तर सुन कर सेठजी उदास हुए। सोचा—'यह मेरे धन की रक्षा न कर सकेगी। यह उड़ाऊ और फैंकू है। इसे ऐसा काम सौंपना चाहिए जिससे मेरी सम्पत्ति को किसी प्रकार क्षति न पहुँचे।' इस प्रकार सोच कर उस से कहा—'बेटी! आज से मैं तुझे घर का कूड़ा-

कचरा निकालने का, लीपने-पोतने का, स्नान के लिए गर्म जल करने आदि का काम सौंपता हूँ। मैं तुझे इन्हीं कामों के योग्य समझता हूँ। खूब कुशलता से इन कामों को करना।

दूसरी पुत्र वधू की बारी आई। उसे बुला कर उससे भी शालि मांगे। उसने भी उज्झिया की भांति कोठे से शालि के दाने निकाल कर दे दिये। सेठजी के पूछने पर भोगवती ने कहा—पिताजी! आपके दिये हुए दानों को सँभाल रखना कठिन था और उन्हें फेंक देना भी उचित न था क्योंकि आपने प्रेमपूर्वक दिये थे। अतएव मैंने साफ करके उन्हें खा लिया है। यह दूसरे दाने हैं।

भोगवती का उत्तर सुन सेठजी ने विचार किया—'यह भी गृह कार्य को यथेष्ट रूप से चलाने में असमर्थ है। इसे खाना-पीना अधिक प्रिय है।' अतएव सेठजी ने पीसने-कूटने, भोजन बनाने, पकवान तैयार करने तथा परोसने का काम उसके सिपुर्द कर दिया। और बुद्धिमत्ता से यह कार्य करने का आदेश दिया।

इसके अनन्तर उन्होंने तीसरी पुत्र वधू रक्षिका को बुलाया और वही दाने माँगे। वह अपनी रत्न-पिटारी में सुरक्षित रखे हुए दाने ले आई। सेठ के प्रश्न के उत्तर में उसने बताया—'पिताजी, यह वही दाने हैं जो आपने मुझे

दिये थे। नगर के सब प्रतिष्ठित और सम्भ्रान्त सज्जनों के समक्ष दी हुई यह धरोहर साधारण-सी प्रतीत होने पर भी गंभीर विचार करने से मुझे असाधारण और रहस्यपूर्ण ज्ञात हुई। अतएव इसे मैंने रत्नों की पिटारी में सुरक्षित रूप से रख छोड़ा था। प्रतिदिन इसकी देखभाल कर लेती थी।

रक्षिता की बात से सेठजी को प्रसन्नता हुई उन्होंने सोचा—जैसे शालि-कणों को इसने सुरक्षित रखा है वैसे ही द्रव्य को भी यह सुरक्षित रखेगी।' यह विचार कर जवाहरात, सुवर्ण, हिरण्य, पीतल, धन-धान्य, भाण्डोपकरण आदि गृहस्थी संबंधी वस्तुओं को सुरक्षित रखने का कार्य उसे सौंप दिया। सावधानी और चतुरता के साथ सब काम करने का आदेश देकर उसे भी विदा किया।

अन्त में चौथी पुत्र वधू से भी शालि मांगे गये। वह बोली—'पिताजी, वह शालि यों न आ सकेंगे। उनके लिए तो बहुत-सी गाड़ियों और छकड़ों की आवश्यकता है।' रोहिणी के इस विचित्र-से उत्तर से क्षणभर लोग चकित रह गये। सेठजी को भी कुछ आश्चर्य हुआ। वह बोले—'बेटी, यह क्या पहेली-सी बुझाती है? स्पष्ट करके कहो—वास्तविक बात क्या है? पांच दानों के लिए गाड़ियों और छकड़ों की आवश्यकता क्या है?

रोहिणी ने मुस्कराते हुए नम्रतापूर्वक धीमे से कहा—

'पिताजी ! आपने आज से पांच वर्ष पूर्व पांच दाने दिये थे। साथ ही उनकी रक्षा और वृद्धि करने का भी आदेश दिया था। मैंने आपके आदेश का पालन किया है। पिता के घर दाने भेज कर उनकी खेती कराई। प्रति वर्ष बढ़ते-बढ़ते वे इतने अधिक हो गए हैं कि गाड़ियों और छकड़ों के बिना नहीं आ सकते।'

बुद्धिमती रोहिणी के कौशल की बात सुन कर सेठजी के चेहरे पर हर्ष नाचने लगा, मानों उन्हें जो चाहिए था वही मिल गया हो। उनके आनन्द की सीमा न रही। उसी समय रोहिणी के मायके के लिए उन्होंने गाड़ियां रवाना करदीं और सब धान उनके पास आ गया। शालि से भरी हुई गाड़ियों का तांता लग गया तो नगर-निवासी रोहिणी के बुद्धि-वैभव की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। लोग कहने लगे—वास्तव में गृहिणी हो तो ऐसी हो जिसने पांच दानों से गाड़ियां धान्य कर दिया! सेठजी ने प्रसन्नतापूर्वक उसे गृहस्थी का सर्वेसर्वा बना दिया और सब को उसी के आदेशानुसार चलने की आज्ञा दी। इस प्रकार रोहिणी स्वामिनी के पद पर प्रतिष्ठित हुई और सेठजी निश्चिन्त हो गए।

## उपसंहार

उल्लिखित कथा जैन वाङ्मय का एक अत्यन्त उच्च-

कोटि का अंश है। इस में जो महत्वपूर्ण सार संग्रहित हैं वे अनेक दृष्टियों से साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं के लिए पद-पद पर उपयोगी हैं। इस कथा पर जितना ही अधिक विचार किया जायगा, उतना ही अधिक तत्त्व प्राप्त होगा। मुख्यतया निम्नलिखित बातों पर इस से विशेष प्रकाश पड़ता है:—

( क ) जिस प्रकार उज्झिका ने श्वसुर के दिये हुए दाने फेंक दिये और भोगवती उन्हें सफाचट कर गई. उसी प्रकार जो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका अपने गुरु द्वारा प्रदत्त त्याग-प्रत्याख्यान का परित्याग कर देते हैं या थोड़े समय तक पालन कर उन्हें दूषित करते हैं वे उज्झिका और भोगवती की तरह लोकनिन्दा के पात्र बनते हैं। इस के अतिरिक्त उन्हें उज्झिका और भोगवती के समान ही हीन पद की प्राप्ति होती है।

जो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, रक्षिका और रोहिणी के समान, गुरुप्रदत्त त्याग-प्रत्याख्यान आदि नियमों का यावज्जीवन पालन करते हैं; उनकी वृद्धि करते हैं वे लोक में प्रशंसा के पात्र बनते हैं और उन्हें उच्च पदवी ( मुक्ति ) प्राप्त होती है। अतएव प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह ग्रहण की हुई प्रतिज्ञाओं को, किये हुए प्रण को प्राणों की बाजी लगाकर भी पालन करे।

( ख ) यद्यपि प्रत्येक आत्मा अनन्त गुणों का आधार है और सब आत्माओं में समान शक्तियां रही हुई हैं। पर उन शक्तियों का आविर्भाव समान नहीं होता। किसी में कोई शक्ति विशिष्ट रूप से आविर्भूत होती है, किसी में कोई और ही। इसके अतिरिक्त सब की रुचि भी भिन्न भिन्न ही होती है। एक छात्र स्वभावतः दर्शन शास्त्र के अभ्यास में अधिक रुचि वाला होता है तो दूसरे को प्राणी शास्त्र अधिक रुचिकर होता है। कोई साहित्य में कौशल प्राप्त कर सकता है, कोई कला-कौशल सुगमता से सीख सकता है। अतएव सब धान बाईस पसेरी तोलना उचित नहीं। ऐसा करने से व्यक्ति का विकास रुक जाता है, उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और वह सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। यह निष्कर्ष समाजव्यवस्था, कुटुम्बव्यवस्था और विशेषतः शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी है।

( ग ) संतान की कामना किस गृहस्थ को नहीं होती? क्या पठित और क्या अपठित, सब संतान के लिए लालायित रहते हैं। संतान के बिना स्त्री-पुरुषों को अपना जीवन सूना-सा, अधूरा-सा और उदास-सा प्रतीत होता है। अतएव संतति-प्राप्ति के लिए लोग अनेक अभद्र उपायों तक का अवलम्बन करते हैं। पर कितने व्यक्ति हैं जो संतान के सदुपयोग को भलीभांति समझते हैं? संतान को अपने

मनोरंजन का साधन बना लेना, उन्हें अपना खिलौना बना लेना या उससे अपने सौभाग्य की कल्पना कर लेना ही संतान की उपयोगिता नहीं है। संतान की वास्तविक उपयोगिता तो इसमें है कि उन्हें सब प्रकार से समर्थन, कार्यज्ञ, न्यायपरायण और धर्मनिष्ठ बना देने के अनन्तर गृहस्थी का भार उन्हें सौंप दिया जाय और आप एकान्त निश्चिन्त होकर निवृत्तिमय जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार हो जाय। इस सम्बन्ध में धन्ना सार्थवाह का प्रयत्न प्रशंसनीय है।
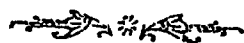
# आठवाँ अध्याय

चीन काल में वीतशोका नामक एक प्रख्यात नगरी थी वह महाविदेह क्षेत्र में, सुमेरु पर्वत के पश्चिम भाग में थी। वहां के राजा का नाम बल था। राजा बल कुशल राजनीतिज्ञ और प्रजापालक था। उसके महाबल नामक एक प्रतापी पुत्र था। वह बड़ा वीर, साहसी और गुरुजनों की आज्ञा का पालक था।

एकबार धर्मघोष नामक मुनिराज इस नगरी में पधारे। उन्होंने त्याग और संयम का सुन्दर उपदेश दिया। उपदेश सुनने से राजा बल को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने महाबल को राज्य देकर मुनिदीक्षा धारण कर ली।

राजा महाबल न्यायपूर्वक राज्य-कार्य करने लगे। उनके बाल्यकाल के छः मित्र थे। उनके नाम क्रमशः

अचल, धरण, पूर्ण, वसु, वैश्रमण और अभिचंद थे। यह सभी, राजकुमार महाबल के साथ ही रहते, आनन्द करते और विद्याभ्यास करते थे। महाबल जब राजा हो गया तब भी इनकी मैत्री में कुछ अन्तर न पड़ा। वे पहले ही की भांति मित्रभाव से रहते थे उनमें से प्रत्येक व्यक्ति सब की सम्मति लेकर ही नया कार्य करता था।

कुछ समय बाद फिर धर्मघोष मुनि का इस नगरी में आगमन हुआ। उनका वैराग्य-रस-परिपूरित सदुपदेश सुन कर राजा महाबल के मन में विरक्ति की प्रबल भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने अपने मित्रों से संयम-धारण करने की इच्छा प्रकट की। सभी मित्रों ने महाबल की मनोकामना की सराहना करते हुए स्वयं भी दीक्षा-धारण करने का निश्चय किया।

महाराज महाबल ने अपने उत्तराधिकारी सुपुत्र बल-भद्र का राजसिंहासन पर अभिषेक किया। बलभद्र ने राजो-चित समारोह के साथ अपने पिता की दीक्षा का उत्सव मनाया। महाबल ने अपने सभी मित्रों के साथ तपस्वी धर्मघोष मुनि के निकट निर्ग्रंथ-दीक्षा धारण की और रत्न-त्रय का उत्कर्ष साधन करते हुए विचरने लगे।

एक बार सब ने समान तप करने का संकल्प किया। उपवास, बेला, तेला या अन्य कोई भी तपस्या करें वह सब

साथ ही करें। इस निश्चय के पश्चात् सब ने बेला ( दो उपवास ) व्रत धारण किया। व्रत ग्रहण करने के पश्चात् मुनि महाबल के हृदय में अपनी महत्ता प्रकट करने की भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने अपने मित्रों से अधिक तपस्या करना स्थिर करके तेला करना प्रारभ किया, किन्तु मित्र मुनियों पर यह बात प्रकट न होने दी · बेला समाप्त होने पर अन्य मुनियों ने पारणा करने के भाव दर्शाए तो महा-बलजी ने भी यही भाव व्यक्त किया परन्तु जब अन्य मुनियों ने पारणा कर लिया तो वे कहने लगे—मैं तो तेला करूँगा। इस कपट के फल स्वरूप उन्हें स्त्रीवेद का बन्ध हुआ।

कपट करने से आत्मा का घोर पतन होता है—ऐसा पतन कि जिसका छोर ही नहीं मिलता। थोड़े से कपट के कुप्रभाव से महाबल जैसे राजर्षि और ज्ञानी पुरुष को भी स्त्री पर्याय भुगतनी पड़ी तो सामान्य व्यक्तियों के लिए महान् कपट का कितना दुष्परिणाम होगा, यह सहज ही समझा जा सकता है। कपटी मनुष्य दूसरों की दृष्टि में गिर जाता है, उसे झूठ का जाल रचना पड़ता है, बात-बात में वह अपने हृदय को धोखा देता है। मायाचार वास्तव में सदाचार और सद्विचार का प्राणसंहार करने वाला भयंकर शस्त्र है। यह वह दुधारा शस्त्र है जिससे स्व-पर-दोनों का

हनन होता है। अतएव विवेकनिष्ठ नर-नारी हृदय को सरल बनाने का पूर्ण प्रयास करते हैं।

इसके अनन्तर महाबल मुनि ने अनेक प्रकार की तीव्र तपस्या करके सर्वोत्कृष्ट पुण्य के परिणाम स्वरूप तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध किया, जो निम्नलिखित बीस कारणों से होता है:—

( १-७ ) अरहन्त, सिद्ध, शास्त्र, गुरु, स्थविर, बहु सूत्री, तपस्वी, का गुणानुवाद करना

( ८ ) ज्ञान अभ्यास करना

( ९ ) शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करना

( १० ) गुरुजनों का विनय करना

( ११ ) पापों से डरते रहना और देवसी, रायसी, पक्खी, चौमासी सम्वत्सरी का प्रतिक्रमण कर अपने अपराधों के लिए क्षमा-याचना करना।

( १२ ) ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का यथा योग्य पालन करना।

( १३ ) पापों की उपेक्षा करते हुए सदैव वैराग्यभाव रखना।

( १४ ) बाह्य अभ्यंतर तप करना।

( १५ ) प्राणीमात्र के लिए सुख पहुँचाना।

( १६ ) फल की इच्छा रहित दान देना।

( १७ ) सर्वत्र समताभाव रखना।

( १८ )आत्मिक ज्ञान शक्ति को निरन्तर बढ़ाते रहना।

( १९ ) सूत्रों पर श्रद्धा रखना।

( २० ) तन, मन और धन से सूत्रों को मनुष्यों के के हाथों में पहुंचाना

इन बीस कार्यों में से महाबली ने पूर्ण रूप से कार्य किया। छहों साधुओं के साथ ग्यारह पडिमा धारण की। फिर उन सातों मुनियों ने सिंह निष्कलंक तप धारण किया जिसकी विधि निम्न प्रकार है:—

पहिले एक उपवास कर के पारणा करना, फिर दो उपवास करके पारणा करना। इसी प्रकार क्रमशः से २-४, ३-५, ४-६, ५-७, ६-८, ७-९, ८-९, ७-८, ६-७, ५-६, ४-५, ३-४, २-३, १-२, १ उपवासों के बाद पारणा करना।

इस घोर तप के करने से उनका शरीर अत्यन्त कृश और शिथिल होगया। अन्त में अपना अन्तिम समय उपस्थित हुआ देख कर उन सातों ने वक्षार पर्वत पर जाकर संथारा धारण किया और समाधि पूर्वक अपने प्राणों का त्याग कर वे जयन्त विमान में उत्कृष्ट ऋद्धि के धारक देव बने। उनकी आयु वहां ३२ सागर की थी। वे उत्तम स्वर्गीय सुखों में निरन्तर मग्न रहते थे। देवायु समाप्त होने पर उन्होंने शरीर त्याग कर मनुष्य जन्म प्राप्त किया। उनका

जन्म निम्नांकित स्थानों पर हुआ ।

( १ ) इक्ष्वाकु देश के राजा प्रतिबुद्ध

( २ ) अंग देश के राजा चन्द्रछाय

( ३ ) काशी देश के राजा शंख

( ४ ) कमल देश के राजा रूखी

( ५ ) कुरु देश के राजा अदीन शत्रु

( ६ ) पांचाल देश के राजा जितशत्रु

महाबल देव वहां से काल करके मिथिलापुर राज्य के राजा कुंभ की प्रिय पत्नी प्रभावती की कुक्षि में फाल्गुण शुक्ला चतुर्थी की रात्रि के पिछले पहर में आए । उसी समय महारानी प्रभावती ने १४ स्वप्न देखे जिसके फल स्वरूप अपने गर्भ में तीर्थंकर को आया हुआ जान कर वह अत्यंत हर्षित हुई ।

नव मास समाप्त होने पर मार्ग शीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन प्रभावती के गर्भ से एक शुभ कन्या का जन्म हुआ । गर्भ में आने के समय से ही माता को सुगन्धित पुष्पमालाएँ धारण करने का बहुत शौक हो गया था । इसीलिए कन्या का नाम मल्लि रखा गया ।

मल्लिकुमारी का जन्मोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया । धीरे-धीरे बढ़ती हुई कुमारी नवयुवती हुई । अंग-अंग में सौन्दर्य खिल उठा पर मन में वही बालसुलभ निर्विका-

रता ज्यों की त्यों थी। उन्हें जन्म से अवधिज्ञान था और उस ज्ञान से उन्होंने अपने मित्रों की उत्पत्ति तथा राज्य प्राप्ति आदि बातें जान ली थीं।

एक बार मल्लिकुमारी ने मंत्री को अशोक वाटिका में एक सुन्दर, मनोमोहक और विशाल भवन बनवाने की आज्ञा दी। उन्होंने यह भी कहा कि—'भवन के बीचों-बीच छह कमरे बनवाना, कमरों के बीच में एक चबूतरा हो और उस पर हूबहू मेरे जैसी एक सुवर्णमयी पुतली बनवाना। पुतली के मस्तक पर ढक्कनदार गुप्त छिद्र हो' कुछ ही दिनों में कुमारी के आदेशानुसार भवन आदि का निर्माण हो गया।

मल्लिकुमारी जब भोजन करती तब एक कौर उस पुतली के छिद्र में अवश्य डाल देती थी। कुछ ही समय में पुतली से ऐसी दुर्गंध आने लगी मानों मुर्दा सड़ रहा हो।

उसी समय कौशल देश के साकेत नगर में इक्ष्वाकु राजा राज्य करता था। उसकी पद्मावती नामक महारानी और सुबुद्धि नामक मंत्री था।

एक दिन की बात है। नगर से बाहर नागदेव का उत्सव था। महारानी ने अपने पति से उत्सव में सम्मिलित होने की आज्ञा मांगी। आज्ञा मिल गई। रानी ने उसी समय माली को बुलवाया और नागदेव के स्थान पर पांचों

ही वर्णों के फूल और फूलों की एक गेंद बना लाने की आज्ञा दी। माली, रानी की आज्ञा के अनुसार कुसुम और कन्दुक लेकर उपस्थित हुआ। इधर रानी भी स्नान आदि से निवृत्त होकर रथ में आरूढ हो नागदेव के स्थान पर जा पहुँची। रानी ने उचित पूजन-सामग्री के साथ मंदिर में प्रवेश किया और नागदेव की पूजा की।

राजा भी इसी समय अपने राजसी ठाटपाट के साथ वहां आ पहुँचा। देवालय में प्रवेश करते ही राजा की दृष्टि उस पुष्प-कन्दुक पर पड़ी। वह उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गया। मंत्री से कहा—क्या तुमने कभी ऐसी सुन्दर गेंद देखी है?

मत्री बोला—'एक बार मैंने मिथिला नगरी में राजा कुम्भ की कन्या मल्लिकुमारी का वार्षिकोत्सव देखा था। वहां एक गेंद भी मैंने देखी थी। यह गेंद उसकी तुलना में नगण्य जँचती है।'

मंत्री की बात सुन राजा ने मल्लिकुमारी के विषय में पूछताछ की। मंत्री ने कुमारी का परिचय देते हुए उसके रूप-लावण्य का जो वर्णन किया तो राजा का हृदय अधिकार से बाहर हो गया। उसके हृदय में उस सौन्दर्य के उपभोग की कामना जाग उठी। उसने उसी समय दूत को मिथिला जाकर मल्लिकुमारी की मँगनी करने का आदेश

दिया। राजा की आज्ञा शिरोधार्य कर दूत ने मिथिला के लिए प्रस्थान किया।

उसी समय अंगदेश के अन्तर्गत इतिहास-विख्यात चम्पा नामक नगरी में चन्द्रच्छाय राजा राज्य कर रहा था। उसी नगरी में अर्हन आदि अनेक सद्गृहस्थ रहते थे, जो व्यापार आदि कार्यों में परस्पर सहायता किया करते थे। अर्हन श्रावक यथानाम तथा गुण था। वह जीवादि तत्त्वों का ज्ञाता और नीतिनिष्ठ था। वह अपने लाभ के लिए दूसरों के लाभ को खतरे में डालना पसंद नहीं करता था। वह अपनी ही भांति सबको सुखी देखने की आकांक्षा रखता था।

एक वार अर्हन ने व्यवसायी-समुदाय में बैठे हुए एक प्रस्ताव रखा कि हम लोग चारों प्रकार की वस्तुएँ लेकर व्यापार के लिए विदेश चलें। वे चार प्रकार की वस्तुएँ इस प्रकार हैं:—

(१) गिनकर बेची जाने वाली वस्तुएँ, जैसे नारियल आदि

(२) तोलकर बेची जाने वाली वस्तुएँ, जैसे अनाज आदि

(३) नापकर दी जाने वाली वस्तुएँ, जैसे घी, तेल आदि

( ४ ) परीक्षा-पूर्वक दी जाने वाली वस्तुएँ, जैसे हीरा, पन्ना आदि

अर्हन का प्रस्तुत विचार सब ने पसंद किया। गाड़ियां भरी गईं और सामान समुद्र के तीर पर पहुँचाया गया। व्यवसायी लोग भी अपने इष्ट मित्रों के साथ भोजन आदि से निवृत्त होकर बंदरगाह पर पहुँचे। सौदा जहाजों पर लाद दिया गया और विदाई देने आये हुए प्रियजनों से विदा लेकर व्यापारी भी जहाज पर सवार हुए। जहाज का लंगर खोला गया और देखते ही देखते जहाज लवण-समुद्र के वक्षस्थल पर धूम मचाने लगा। बात की बात में वह आंखों से ओझल हो गया।

मार्ग में अकस्मात् एक दैविक उपसर्ग आ पड़ा। एक देवता ने भयंकर पिशाच का रूप धारण किया और वह अर्हन से बोला—'अरे अर्हन, यदि तुझे प्राण प्यारे हैं और अपने साथियों को बचाना चाहता है तो मेरी बात सुन। तू अपने दयामय सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि दे दे, अन्यथा क्षण भर में यह अतल सागर अपने विशाल उदर में तुम्हें समा लेगा।'

अर्हन श्रावक भी कुछ ऐसा-वैसा नहीं था। वह विनश्वर एवं अपावन शरीर तथा धर्म के अन्तर को भलीभांति समझता था। उसने निश्चय किया कि धर्म-रक्षा के लिए

एक क्या एक सहस्र शरीरों का भी उत्सर्ग कर देना साधारण-सी बात है। शरीर की सार्थकता धर्म की साधना में है। जो शरीर, धर्म की साधना में सहायक नहीं होता वह वृथा है, यही नहीं बल्कि केवल पाप-पुञ्ज का उपार्जक है। धर्म आत्मा का स्वभाव है, और उसका परित्याग करना असंभव है। रहा शरीर, सो वह तो अप्राप्य वस्तु नहीं है। एक पुराने शरीर का सम्बन्ध विच्छेद होने पर दूसरा नया शरीर प्राप्त होगा ही। कदाचित् शरीर न मिला तो चिरकालीन धर्म-साधना सफल हो जायगी। शरीर से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही तो चक्रवर्ती जैसे षट्खण्ड के धनी भी अपने एक-छत्र साम्राज्य को ठोकर मार कर वनों में निवास करते हैं और भिक्षु-भेष धारण करते हैं। यह फल हमें इतने सस्ते में मिल जाय तो इससे श्रेष्ठ और क्या हो सकता है? यदि शरीर-रक्षा के लिए धर्म का परित्याग कर दिया तो शरीर रहा ही किस मर्ज़ की दवा?' ऐसा सोच-विचार कर अर्हन बिल्कुल निर्भय रहा।

पिशाच ने अर्हन की दृढ़ता और निर्भयता देखकर दूसरी बार और फिर तीसरी बार हाथ ऊपर को उठा-उठा कर वही धमकी दी, पर अर्हन सुमेरु की तरह अविचल ही बना रहा। अर्हन की दृढ़ता ने पिशाच का हौसला पस्त कर दिया। उसने देखा—अर्हन वस्तुतः सच्चा श्रावक है।

मैं किस गिनती में हूँ, स्वयं इन्द्र भी आकर उसे अपने सिद्धान्त से नहीं डिगा सकता !

धार्मिक दृढ़ता वह चीज़ है जिसके सामने फौलाद भी मोम बन जाता है, भयंकर विषधर भी कण्ठ का हार बन जाता है, अग्नि शीतल और जलधि भी स्थल बन जाता है। सचमुच, मनोबल ही संसार में सर्वोत्कृष्ट बल है और जब उसमें सच्चे धर्म का पुट होता है तब तो वह सर्वथा अजेय बन जाता है। उसके सामने बड़ी से बड़ी शक्ति भी पानी भरती है। ऐसी दृढ़ता जिन्हें प्राप्त हो जाती है वही महापुरुष अभिनन्दनीय हैं, अभिवन्दनीय हैं और महनीय हैं।

जिन्होंने धर्म में एकनिष्ठता प्राप्त कर ली है, उनका उद्धार तो होता है, साथ ही विरोधभाव से भी उनके संपर्क में आने वाले प्राणियों के कल्याण का द्वार खुल जाता है। चन्दन के वृक्ष को छेदने वाला कुल्हाड़ा भी चन्दन की मनोमोहिनी सुरभि से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

धर्मात्मा की उज्ज्वल और प्रकाशमयी आत्मा-तरणि की करुणा-किरणें पापी के मलीमस मानस-मंदिर में समवेत तिमिर-स्तोम को पल भर में मार भगाती हैं। वे आन्तरिक 'दानव' को अन्तर्हित कर उस से असली 'मानव' का सृजन करती हैं।

अर्हन सुदृढ़ धर्मात्मा था। उसकी धार्मिकता ने पि-

शाच की पैशाचिकता को दिव्यता के रूप में परिवर्तित कर दिया। उसने देवता का रूप धारण किया। वह अर्हन की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। यही नहीं, उसने अर्हन को भेट-स्वरूप दो कुण्डल प्रदान किये और चला गया।

यान अब गन्तव्य स्थान में जा पहुँचा। सारा माल उतरवा कर अर्हन मिथिला नगरी में पहुँचा तो वहां के राजा के पास गया और वही दोनों कुण्डल उसने भेट में दिये। राजा ने मल्लिकुमारी को बुला कर कुण्डल उसे पहना दिये। इस बहुमूल्य भेट के बदले राजा ने कर माफ कर दिया और अर्हन का खूब आदर-सत्कार किया।

अर्हन ने माल बेचकर नया माल खरीदा और अपने नगर के लिए रवाना हो गया। वहाँ जाकर भी उसने राजा को कुंडल का जोड़ा भेट किया। राजा ने भेट स्वीकार कर कहा—'अर्हन, बहुत दूर जाकर आये हो। कहो परदेश में तुमने कौन-सी उत्तम वस्तु देखी?' अर्हन ने उत्तर दिया—'महाराज, मैं ने मिथिलेश की कन्या मल्लि कुमारी को देखा है। वह संसार में सर्व श्रेष्ट सुंदरी है। ऐसा जान पड़ता है मानों सौन्दर्य ही साकार होकर मल्लि कुमारी बन गया है।

अर्हन की बात सुन राजा ने दूत को बुलाया और मिथिला जाकर मल्लि कुमारी की मँगनी करने की आज्ञा

दी। दूत मिथिला जा पहुँचा।

उसी समय कुणाला के अन्तर्गत सावत्थी (श्रावस्ती) नाम की नगरी भी खूब समृद्ध थी। वहाँ रूपी नामक राजा उस समय राज्य कर रहा था। उसकी पत्नी का नाम धारिणी और पुत्री का नाम सुवाहु था। कन्या रूपसंपन्न और लावण्य में अद्वितीय थी। एक वार किसी उत्सव के समय राजा ने कन्या के लिए फूल मँगवाए, फूलों की गेंद बनवाई। राजा ने दूसरे सेवक को राजमार्ग में पुष्प-मय मण्डप तैयार कर उसमें पंच वर्ण तण्डुलों से नगर की रचना करने और उसमें एक जौट रखने की आज्ञा दी। यथा समय सव तैयारी हो जाने पर राजा अपनी चतुरंगिणी सेना, अन्तःपुर की स्त्रियों और कन्या सुवाहु के साथ मण्डप में आया। कन्या को स्नान कराकर, आभूषणों से भूषित कर वाजौट पर बिठलाया। कन्या पिता को प्रणाम करने गई तो उसने अपने अंक में बिठा लिया और उसके अनुपम लावण्य को देख कर मन ही मन फुला न समाया।

उसी समय राजा ने वर्षधर को बुलाकर पूछा—कहो, तुमने कहीं ऐसा सुन्दर उत्सव कभी देखा है? वर्षधर ने उत्तर दिया—'आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर मैं एक बार मिथिला गया था। वहाँ मैंने मल्लिकुमारी का उत्सव भी देखा था। क्षमा कीजिएगा, यह उत्सव उस उत्सव के मु-

काबिले कुछ भी नहीं है।'

उसी समय इस राजा ने भी मल्लि कुमारी की मँगनी करने के लिए अपना दूत मिथिला भेज दिया। आदेशानुसार यह दूत भी मिथिला पहुँचा।

उस समय मिथिला नगरी में कुम्भ राजा की कन्या मल्लिकुमारी के देवदत्त कुण्डल टूट गए थे। उन्हें ठीक कराने के लिए राजा ने स्वर्णकारों को बुलाया। कुण्डलों की सन्धि टूटी हुई थी। उसे ठीक करने की आज्ञा पाकर स्वर्णकार कुण्डल लेकर घर चले गये। घर जाकर उन्होंने बहुत माथापच्ची की पर कुण्डल जुड़ न सके। अन्त में हताश हो कर वे पुनः राजा के पास आये, प्रार्थना की—'दीनानाथ, यह कुण्डल बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं जुड़ते। आज्ञा हो तो इसी प्रकार के नये बना कर हाजिर करें।'

सुनारों की बात सुनते ही राजा आग बबूला हो गया। बोला—जब तुम संधि भी नहीं जोड़ सकते तो नये क्या खाक बनाओगे? तुम लोग कुछ भी नहीं जानते। निकल जाओ हमारे देश से!

बेचारे सुनार क्या करते? हताश हो अपना आवश्यक सामान लेकर काशी देश की बनारस नगरी में आये। वहां शंख नामक राजा का राज था। भेट लेकर राजा के सन्मुख गये

और राज्य में बसने की आज्ञा मांगी। राजा ने पूछा—'तुम सब कहां से आये हो ? तुम्हारे आने का कारण क्या है ?' सुनारों ने समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। वृत्तान्त सुन कर राजा ने कन्या के रूप-लावण्य के विषय में पूछा और सुनारों ने सब बात बताई। उन्होंने कहा—उसका रूप असाधारण है। ऐसी कन्या सम्भवतः दूसरी नहीं है।

राजा का मन विचलित हो गया। उसने भी अपने दूत को बुला कर मल्लिकुमारी की मँगनी के लिए मिथिला भेज दिया।

मल्लिकुमारी के छोटे भाई मल्लिदिन्न ने उस समय राजप्रासाद के पीछे, बगीचे में एक सुन्दर 'चित्र सभा' नामक कोठी बनवाने की आज्ञा दी। राजकुमार की आज्ञा-पूर्ति होते देर न लगी। शीघ्र ही कोठी बन कर तैयार हो गई। फिर राजकुमार ने चतुर चित्रकारों को बुलाया और चेतोहर चित्र-विचित्र चित्र बनाने की आज्ञा दी। चित्रकारों ने अपनी सारी चित्रकला मानों मूर्त रूप में कोठी पर अंकित कर दी। सुन्दर और भाव पूर्ण चित्र बनाये गये। उन चित्रकारों में एक चित्रकार प्रतिभाशाली था। वह किसी मनुष्य, पशु या पक्षी आदि के एक अवयव को देख कर ही पूर्ण चित्र अंकित कर सकता था। उस ने किसी समय मल्लिकुमारी का अंगूठा भर देख पाया था और उसी के आधार पर उसका

परिपूर्ण चित्र कोठी पर अंकित कर दिया। राजकुमार ने चित्रकारों को यथेष्ट पारिश्रमिक देकर विदा कर दिया।

एक दिन युवराज अपनी पत्नी आदि परिवार को लेकर धाय माता के साथ उस चित्रसभा में आया। वहां के सौन्दर्य को और चारू चित्रों का ध्यान से अवलोकन करता हुआ वह वहां जा पहुंचा जहां मल्लि कुमारी का चित्र अंकित था। उस चित्र की ओर दृष्टि जाते ही कुमार मारे लज्जा के गड़ सा गया। उसने सोचा-बहिन मल्लि कुमारी का आगमन यहां कब हुआ? मेरी ज्येष्ठ भगिनी, माता-पिता के तुल्य आदरणीय हैं। इनके देखते हुए मैं अपनी पत्नी के साथ घूम रहा हूँ। बहिन मन में क्या सोचेंगी? मैं कैसा निर्लज्ज हूं! यह सोच कर कुमार पीछे की ओर हटने लगा कुमार के चेहरे पर लज्जा भरे भाव और एकदम पीछे हटना देख धाय ने ऐसा करने का कारण पूछा। कुमार ने कुमारी के चित्र की ओर संकेत करते हुए कहा-देखो न बहिन वहीं खड़ी हैं। उनके सामने परिवार के साथ कैसे जाऊं?'

धाय को कुमार की बात सुनकर हंसी आ गई और उसकी विनय शीलता से प्रसन्नता भी हुई। वह बोली बेटा! वह मल्लि कुमारी नहीं हैं, वह तो उनका हूबहू चित्र है।

धाय की बात सुनते ही कुमार का चेहरा तमतमा उठा। उसे चित्रकार पर एकदम क्रोध आया। बोला-चित्र-

कार ने मेरी बहिन का चित्र बनाया कैसे ? उसने बहिन को कब और कैसे देखा ? चित्रकार को फांसी की सजा भी कम होगी।

चित्रकार बुलाए गए। जबाव तलब किया गया। सब चित्रकारों ने हाथ जोड़ कर कहा-दीनानाथ, यह चित्रकार हम सब में होशयार है। यह किसी भी वस्तु का एक भाग देखकर ही परिपूर्ण चित्र अंकित कर सकता है। इसने मल्लि कुमारी को कभी देखा नहीं। उनका एक अंगूठा मात्र कभी दृष्टिगोचर हो गया था। उसी के आधार पर यह चित्र अंकित किया गया है। कृपा कर इसे फाँसी की सजा न फरमाइए।' युवराज ने फाँसी के बदले चित्रकार का अंगूठा कटवा डाला और उसे देश-निकाले का दण्ड दिया।

चित्रकार अपना डंड-कमंडल लेकर कुरुदेश के हस्तिनापुर नगर में पहुँचा। वहाँ पहुँच कर वह वहाँ के महाराज आदीनशत्रु के सामने गया। मल्लिकुमारी का चित्र बना कर पास में रख लिया और भेट देकर उनसे हस्तिनापुर में रहने की आज्ञा माँगी। उसने कहा—दयावतार, मैं मिथिला का रहने वाला हूँ। राजकुमार ने मुझे देश से निकाल दिया है। अब आपके आश्रय में, आपकी प्रजा बन कर रहना चाहता हूँ। राजा ने देश-निकाले का कारण पूछा तो चित्रकार ने सारा वृत्तान्त सुनादिया। राजा, कुमारी के

चित्र को देखने का लोभ संवरण न करसका। उसने चित्र देखने की अभिलाषा प्रकट की। चित्रकार पहले से ही तैयार हो कर गया था। उसने चित्र निकाल कर बता दिया। यह भी कहा कि मल्लि कुमारी के असली सौन्दर्य को चित्र में प्रदर्शित कर सकना असंभव है। कुमारी के सामने यह चित्र तो नाचीज है।

राजा अदीनशत्रु का भी मन मचल उठा। उसने अपने दूत को बुलाया और मल्लि कुमारी की मंगनी के लिए मिथिला रवाना कर दिया। दूत मिथिला जा पहुंचा।

उस समय मिथिला में चोक्खा नाम की परिव्राजिका रहती थी। वह चारों वेदों की ज्ञाता थी। मिथिला की प्रजा को वह दानधर्म, शौचधर्म, तीर्थाभिषेक के महत्व का प्रतिपादन करती हुई व्याख्यान देती थी। एक दिन वह संन्यासिनी-राज भवन में मल्लि कुमारी के समीप जा पहुंची। उसने अपने धर्म की व्याख्या की। उसकी व्याख्या सुनकर कुमारी ने कहा-तुम्हारे धर्म का मूल क्या है?

सन्यासिनी—हमारा धर्म शौच-मूलक है। किसी प्रकार की अशुचि हो जाने पर जल और मृत्तिका आदि से स्नान करना चाहिए। इस क्रिया कलाप से आत्मा को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

राजकुमारी—आपने जो शुचि बतलाई वह तो केवल

शारीरिक शुचि है। शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, तो शारीरिक शौच से आत्मिक शौच कैसे हो सकता है! जैसे खून से भरा हुआ कपड़ा खून से साफ नहीं हो सकता, उसी प्रकार स्नान आदि क्रियाओं से आत्मा शुचि नहीं हो सकता।

इस प्रकार के लम्बे वार्त्तालाप से सन्यासिनी निरुत्तर हो गई। उसे चुप्पी साधे देख दासियों की बन पड़ी। किसी ने मुँह मटकाना प्रारंभ किया, कोई शरारत भरी हँसी हँसने लगी और कोई ताने मारने लगी। सन्यासिनी इस व्यवहार से बहुत अप्रसन्न हुई और पांचाल (पंजाब) देश के अन्तर्गत कम्पिलपुर नामक नगर में आई। वह कम्पिलपुर की जनता को अपना धर्म सुना रही थी। एक दिन वह वहां के राजा जितशत्रु के पास पहुँची। राजा उस समय रनवास में था। उसने सन्यासिनी का यथायोग्य आदर-सत्कार किया और उसका उपदेश सुना। अन्त में राजा ने कहा—आप तो देश देश घूमती हैं, कहीं ऐसा अन्तःपुर आपके देखने में आया है?

सन्यासिनी बोली—राजन, आप तो कूप-मण्डूक की बात चरितार्थ करते हैं।

राजा—कैसे?

सन्यासिनी—मिथिला के राजा की राजकुमारी मल्लि-

श्रीमती मल्लि राजकुमारी स्वर्ण-मूर्ति द्वारा छः ही नरेशोंको पौद्गलिक सुखोंकी निस्सारता का प्रदर्शन करा रही है।
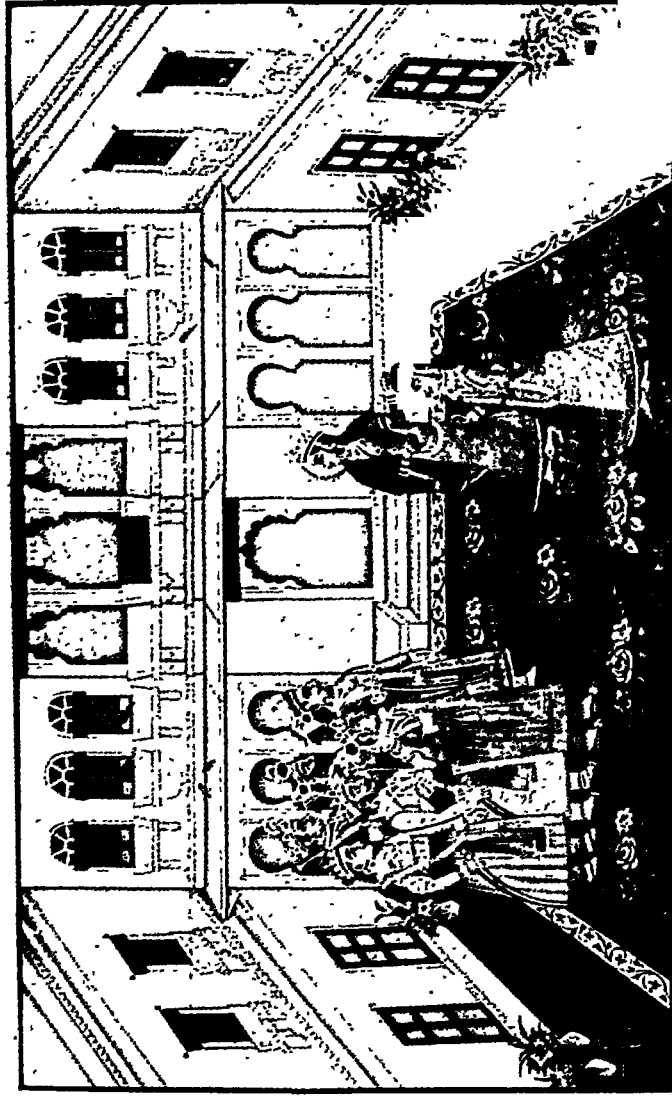
नव यौवना है। उसके सामने तुम्हारा अन्तःपुर नगण्य है, उसके सौन्दर्य पर तुम्हारी रानियों का सौन्दर्य निछावर किया जा सकता है।

सन्यासिनी इतना कहकर चलती बनी। राजा ने अपना दूत बुलाया और राजदुलारी मल्लिकुमारी की मँगनी के लिए मिथिला भेज दिया। दूत मिथिला जा पहुँचा।

इस प्रकार उक्त छहों राजाओं के दूत राजा कुंभ के पास पहुँचे। सब ने अपने-अपने स्वामी की विशाल समृद्धि का सरस वर्णन करके राजकुमारी की याचना की। राजा पहले तो बड़े असमंजस में पड़ा कि क्या किया जाय और क्या न किया जाय! अन्त में उसने निश्चय कर कह दिया— तुम लोग जाओ, हम इनमें से किसी को भी कन्या न देंगे।' दूतों को यह उत्तर देकर उन्हें दरबार से बाहर निकाल दिया। दूत अपने-अपने स्वामी के समीप पहुँचे और उन्होंने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इससे छहों राजाओं की कोपाग्नि भड़क उठी। आपस में उन्होंने दूत भेजकर कुंभ राजा पर सम्मिलित आक्रमण करने का निर्णय किया। सब की सेनाएँ मिथिला की सीमा पर आकर जमा हुईं।

जब यह समाचार राजा कुंभ को मिला तो वह भी सैन्य सजाकर युद्ध के लिए सामने आया। दोनों ओर

की सेनाओं में घोर युद्ध हुआ, पर कहावत है—अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। एक ओर छह राजा थे, दूसरी ओर अकेला कुंभ। अन्त में कुंभ की सेना पीछे हटने लगी और फिर नगर के भीतर घुस गई। नगर के चहुँ ओर के फाटक बद कर दिये गये। आक्रमणकारियों ने भीतर घुसने का बहुत प्रयत्न किया पर वे सफल न हो सके! अतएव बाहर ही रह गए।

राजा कुंभ राजसिंहासन पर बैठे हुए परिस्थिति पर विचार कर रहे थे कि उसी समय राजकुमारी मल्लि उनके चरण स्पर्श करने आई। वे गंभीर विचार में तल्लीन थे अतएव अपनी प्यारी पुत्री की ओर उनका ध्यान ही न गया। मल्लिकुमारी बड़ी चतुर थीं। सारी बात ताड़ तो गईं पर बातचीत का सिलसिला चालू करने के उद्देश्य से कहने लगीं—

कुमारी—और दिन आप बड़े लाड़-प्यार से मुझे पुचकारते थे। आपका मुझ पर हार्दिक स्नेहभाव है किन्तु क्या कारण है कि आप आज मेरी ओर नज़र उठाकर भी नहीं देख रहे हैं।

राजा—बेटी, तुम मेरे लिए प्राणों से अधिक प्यारी हो। तुम्हारी सुशीलता, तुम्हारी नम्रता, तुम्हारा विवेक असाधारण है। तुम्हारी जैसी कन्या पाकर मैं धन्य हो गया

हूँ। पर आज जिस विषम स्थिति में आ पड़ा हूँ, उससे छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता। इसी चिंता ने मुझे घेर रखा है।

कुमारी—पिताजी, मुझ पर आपका असीम उपकार है। कृपाकर मेरी एक प्रार्थना स्वीकार कीजिए। आप चिंता दूर कर दें और विपत्ति के बादलों को छिन्न-भिन्न कर देने का भार मुझ पर छोड़ दें।

कुम्भ-बेटी, यद्यपि तुम चतुर हो, बुद्धिमती हो, पर राजनीति के दावपेंचों से तुम्हें कभी वास्ता नहीं पड़ा है। छह राजाओं की सम्मिलित शक्ति हमारे विरुद्ध है। तुम बच्ची हो, क्या कर सकोगी ?

कुमारी-मैं क्या कर सकूंगी, यह तो यथा समय आपको ज्ञात हो ही जायगा। पर बच्चों की शक्ति भी तो कोई वस्तु है। बाल-सूर्य उदित होते ही अन्धकार के विशाल साम्राज्य को पल भर में छिन्नभिन्न कर देता है। मैं भी कुछ कर दिखाना चाहती हूं। यह ठीक है कि छह राजाओं ने मिलकर हम पर चढ़ाई की है, उनका बल जबर्दस्त है, पर यह भी तो स्मरण रखना होगा कि वह बल पाशविक बल है। उस बल का आधार अनीति है और अनीति का आधार बालू की दीवार के समान ढह जाने वाला होता है। नीति और धर्म का बल अजेय होता है और वह बल हमारा

सहायक है। ऐसी स्थिति में हमें भय की गुंजाइश ही कहां है ? मैं पाशविक बल का मुकाबिला पाशविक बल से नहीं करना चाहती बुद्धि-बल से और न्याय-नीति के आधार पर मैं इस परिस्थिति का सामना करना चाहती हूँ।

आप सोचते होंगे-नादान छोकरी क्या कर सकेगी ? पर मैं यह साबित कर देना चाहती हूं कि स्त्रियाँ, किसी भी क्षेत्र में पुरुषों से हीन नहीं हैं, केवल उन्हें अवसर मिलना चाहिए।

राजा—बेटी, तुम क्या करना चाहती हो, जरा स्पष्ट करके कहो।

कुमारी—और कुछ नहीं, आप तो उन छहों राजाओं को पुतलीवाली कोठी पर बुलवा लीजिए, आगे मैं सँभाल लूंगी।

राजा—नगर के दर्वाजे बंद कर थोड़ी देर आराम से बैठे हैं। नगर के भीतर बुलाते ही सर्वस्व मटिया मेट हो जायगा। और यह भी तो कहो कि उन्हें बुलाने से भी होगा क्या ? राजा छह हैं, सब की एक ही मांग है। उसकी पूर्ति होना असंभव है।

कुमारी—आप निश्चिन्त होकर बुलवाइए तो सही। सब आपका मन चाहा होगा। किसी की माँग की पूर्ति भी न करनी होगी।

राजा—कुछ समझ में ही नहीं आता ! वे लोग यों आने भी क्यों लगे ?

कुमारी-आप सब के पास अलग-अलग दूत भेजिए। सब से कहलवा दीजिए कि कन्या आपको दूंगा। इस लोभ के मारे वे अवश्य दौड़े आवेंगे।

राजा कुंभ ने सोचा—होनहार टल नहीं सकती। कुमारी की प्रतिभा अपूर्व है। अवश्य ही इसने कोई युक्ति सोच ली है। फिर भी जो होगा देखा जायगा। यह विचार कर उसने छहों राजाओं को दूत भेज कर पुतली वाली कोठी में बुलवा लिया। छहों को अलग-अलग कमरों में बिठलाया गया। बीच में कुमारी की पुतली थी। राजाओं की नज़र उस पर पड़ी तो उन्होंने समझा यही कुमारी है। वे टक-टकी लगा कर उसी ओर देखने लगे। इतने ही में राज-दुलारी अपनी दासियों और खोजों के साथ पुतली के पास आई और पुतली का ढक्कन उतार फैंका। ढक्कन का उतारना था कि दुर्गन्ध का ज्वार-सा आ गया। मारे दु-र्गन्ध के राजाओं की नाक फटने लगी, दम घुटने लगा।

राजकुमारी ने उनसे पूछा—आप लोग अभी इस पुतली की ओर बड़ी चाव भरी नज़र से देख रहे थे और अभी-अभी नाक-भौं क्यों सिकोड़ने लगे ?

राजाओं ने कहा—यहाँ दुर्गन्ध के मारे प्राणों पर

आफ़त आ पड़ी है और तुम पूछती हो, नाक-भौं क्यों सिकौड़ रहे हो !

कुमारी ने कहा-देखिए, यह सोने की पुतली है। इस में प्रतिदिन भोजन का एक केवल कौर डाला जाता था। फिर भी इसमें इतनी दुर्गन्ध है तो भला मनुष्य के शरीर का क्या पूछना ? यह तो श्लेष्मा, वमन, पित्त, शुक्र, शोणिक, मल मूत्र आदि गंदे-गंदे पदार्थों से ही निर्मित हुआ है।

मैं आप लोगों से पूछना चाहती हूँ कि इस अपवित्र देह पर इतना मूर्छा भाव क्यों है। आप भूल गए, हम लोग अब से तीसरे भव में लिलावती विजय में उत्पन्न हुए थे, साथ-साथ खेले-कूदे थे और अन्त में साथ ही निर्ग्रंथ-दीक्षा धारण की थी ? हम लोग एक-सी तपस्या करते थे पर थोड़े से कपटाचार के कारण मुझे स्त्रीवेद का बन्ध हुआ था। वहां से हम सब जयन्त विमान में उत्पन्न हुए। वहां से चय कर तुम सब राजा हुए हो और मैंने महाराज कुंभ की कन्या के रूप में जन्म धारण किया है।

कुमारी के इन वाक्यों का राजाओं पर तीव्र प्रभाव पड़ा। उनके परिणामों और लेश्याओं में परिवर्त्तन हुआ। शुभ परिणाम आते ही उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया। मल्लि कुमारी की कही हुई बातें उन्हें स्मरण हो आई।

कुमारी ने कहा--मैं दीक्षा अंगीकार करना चाहती हूँ। तुम्हारा क्या विचार है ?

राजाओं ने कहा-हम सब साथी ठहरे, जो तुम्हारा विचार वही हमारा भी है। हम लोग अब मल्लि कुमारी के बदले मुक्ति-कुमारी की आराधना करेंगे।

कुमारी ने मुस्कराते हुए कहा-तो अपने-अपने उत्तराधिकारियों को राज्य सौंप कर शीघ्र यहीं आना !

इधर राजा लोग अपनी-अपनी सेनाएँ वापस ले गए उधर तीर्थंकरी मल्लि ने एक वर्ष तक सुवर्ण-मोहरें दान दीं। वे प्रतिदिन एक करोड़, आठ लाख मोहरें दान देकर संसार के समक्ष दान धर्म का आदर्श उपस्थित करने लगीं। उनके पिता ने भी जगह-जगह भोजनालय स्थापित किये और कोई भी आकर वहां निश्शुल्क भोजन कर सकता था। इस प्रकार एक वर्ष तक यह सब प्रवृत्ति चालू रहने के बाद तीर्थंकरी मल्लि कुमारी ने दीक्षा ग्रहण की। उनके दीक्षोत्सव में देवों और मनुष्यों ने खूब उत्साह के साथ भाग लिया।

मल्लि कुमारी पौष शुक्ला एकादशी के दिन तेले के तप में सहस्राम्रवन में दीक्षित हुई। आपके साथ तीन सौ मनुष्यों और तीन सौ स्त्रियों ने दीक्षा धारण की। अन्य तीर्थंकरों की भाँति उन्हें भी दीक्षा धारण करते ही मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। थोड़े समय के पश्चात् उन्हें निर्मल

केवलज्ञान भी हो गया और उससे उन्हें तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थ हस्तामलकमत् प्रतिभासित होने लगे। केवलज्ञान होने पर देवों ने उनका कैवल्य-कल्याणक धूमधाम से मनाया। पूर्वोक्त छहों राजाओं ने भी भगवान् मल्लिनाथ से दीक्षा धारण की।

केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के अनन्तर मल्लिनाथ भगवान् ने राजा कुंभ तथा अन्य श्रोताओं को धर्मोपदेश दिया। राजा और रानी ने गृहस्थ-धर्म स्वीकार किया।

भगवान् ने वहां से विहार कर नाना दिशाओं और नाना देशों में विचरण कर आत्मा का उत्कर्ष करने वाले सद्धर्म का उपदेश दिया और अनेक भव्य जीवों को मुक्ति के मंगलमय मार्ग पर आरूढ़ किया।

भगवान् ने चैत्र सुदि चतुर्थी के दिन भरणी नक्षत्र में समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्ति प्राप्त की।

## उपसंहार

इस अध्याय का निष्कर्ष स्पष्ट है। भगवान् मल्लिनाथ के जीव ने तपस्वी की अवस्था में थोड़ा-सा कपटाचार किया था। उसका फल उन्हें भोगना ही पड़ा। कर्म किसी को छोड़ता नहीं। भव्य जीवों को चाहिए कि वे कपट को त्याग कर हृदय-पट को निर्मल बनावें।

# अध्याय नौवां

अब से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की बात है। चम्पा नगरी उस समय भारतवर्ष की एक श्रेष्ठ विभूति थी और धन, जन से समृद्ध थी। उस समय वहां कौणिक राजा राज्य करता था। वहीं माकंदी नामक एक सार्थवाह था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। उसके जिनरक्ष और जिनपाल नामक दो पुत्र थे। वे लोग लवण समुद्र के मार्ग से ग्यारह बार द्वीपान्तरों में गये थे और उन्होंने खूब धनोपार्जन किया था। फिर भी उन्हें संतोष न हुआ और बारहवीं बार फिर समुद्रयात्रा करने का निश्चय किया। माता-पिता से वे आज्ञा मांगने गये। माता-पिता ने उन्हें समझाया—'बेटा, हम पर लक्ष्मी की पर्याप्त कृपा है, किसी बात की हम लोगों को कमी नहीं है। आनन्द से रहो उपार्जित

धन का सदुपयोग और भोग करो। बारहवीं बार की समुद्र यात्रा कष्टकारी होती है।'

माता-पिता के बहुत समझाने बुझाने पर भी जब वे न माने तो विवश हो उन्हें आज्ञा देनी पड़ी। जहाजों पर माल लादकर के रवाना हुए। कोसों दूर चले गए। मार्ग में उन्हें अनेक उपद्रव हुए और अकाल ही में आंधी-तूफान आने लगे, बिजली चमकने लगी। उथल-पुथल-सी मच गई। जहाज जर्जरित हो गए। अन्त में जहाज के टूट जाने से सैकड़ों आदमी और लाखों रुपये का धन जल के अतल तल में चला गया। सौभाग्य से जिनरक्ष और जिनपाल किसी प्रकार एक पटिया का सहारा लेकर उसके आधार पर तैरते-तैरते रत्नद्वीप की ओर किनारे जा लगे। किनारे पर पहुँचकर फल-फूल खाकर उदराग्नि शान्त की और नारियलों का तेल निकालकर शरीर पर मालिश की।

रत्नद्वीप के मध्य भाग में एक महल था। उस महल में अतीव क्रूर स्वभाव वाली रत्ना नामक एक देवी रहती थी। महल के चारों ओर चार बगीचे थे। संयोग की बात है। रत्नादेवी अचानक वहीं आ पहुँची जहां ये दोनों भाई बैठे शोक-समुद्र में डूब रहे थे। उसने उन्हें देखा, मानों शिकारी शिकार को देखता हो। वह इनके पास आई और कहने लगी—' यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो मेरे

साथ 'व्यवहार' करो, अन्यथा तलवार के घाट उतार दिए जाओगे।' 'मरता क्या न करता' इस कहावत के अनुसार उन्होंने कहा—'आपकी आज्ञा पालन करने के लिए हम तैयार हैं।' फिर वह उन्हें महल में लाई। अनेक प्रकार के भोग भोगती हुई वह रहने लगी।

एक दिन इन्द्र महाराज ने इस देवी को लवणसमुद्र के किनारे का कूड़ा-कचरा साफ़ करने की आज्ञा दी। वह थोड़ी देर बाद आने को कहकर समुद्र-तट पर चली गई। जाते समय उसने कहा—तुम लोग यहीं महल में रहना। दिल उचट जाय तो पूर्व के बाग में घूम-फिर कर दिल बहला लेना। वहां श्रावण और भाद्रपद तथा आसौज और कार्तिक महीनों का मज़ा आएगा। वहां भांति-भांति के फूल खिले हैं, सुन्दर-सुन्दर वापिकाएँ बनी हैं। वहां भी मन न लगे तो उत्तर के बाग में चले जाना। वहां अगहन, पौष, माघ और फाल्गुन महीनों का आनंद आएगा। इस बगीचे में भी मनोहर रचनाएँ हैं। वहां तुम्हारा मन लग जायगा। कदाचित् वहां भी मन न माने तो पश्चिम के बन में जाकर मनबहलाव करना। यदि वहां से भी जी उचट जाय तो महल में वापस लौट आना और मेरी प्रतीक्षा करना। मगर याद रखना, दक्षिण के बाग में मत जाना। वहां एक भयंकर नाग निवास करता है। वह तुम्हें कष्ट

देगा। उधर पैर भी न बढ़ाना, समझे, उधर हर्गिज न जाना।

इतना कहकर देवी रवाना हुई। दोनों भाई पूर्व, पश्चिम और उत्तर के बगीचों में घूमने लगे। उन्हें ख्याल आया-जाते समय देवी ने दक्षिण के बाग में जाने की मनाई की है। इसमें कुछ रहस्य अवश्य होना चाहिए। चलो, देखें क्या बात है? ऐसा सोच कर वे बगीचे के पास आए। वहां आते ही दुर्गन्ध-सी आने लगी। आगे बढ़े तो हड्डियों का एक ढेर दिखाई दिया, कुछ और आगे बढ़े तो वहां का दृश्य देखकर उनके रोंगटे खड़े हो गए। वहां एक आदमी शूली पर चढ़ा हुआ था और बुरी तरह विलाप कर रहा था। दोनों भाई उसके पास पहुँचे। उसकी इस दुर्गति का कारण पूछा तो वह बोला—भाई, मैं जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में काकंदी नगरी का निवासी हूँ। घोड़ों का व्यापार करता हूँ। एक बार मैं जहाज से यात्रा कर रहा था। जहाज डूब गया, दुर्भाग्य से मैं एक पटिया के सहारे यहां आ पहुँचा। रत्ना देवी मुझे महल में ले आई और मुझ से मनुष्य संबंधी कामभोग भोगती रही। जब तुम इसके चक्कर में फँस गए तो मेरी यह दुर्दशा की गई है। किस और के आने पर तुम्हारी भी यही दशा होगी।

इस आदमी की हृदयवेधी बात सुन दोनों भाई अत्यन्त

भयभीत हुए। काटे तो खून नहीं! उन्होंने किसी प्रकार प्राण-रक्षा करने का विचार किया पर जब कोई उपाय न सूझा तो उसी आदमी से उपाय पूछा। उसने कहा—हाँ, एक उपाय है। पूर्व के बाग में 'शैलग' नामक एक यक्ष रहता है वह यक्ष अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या के दिन ऊपर आकर ज़ोर से चिल्लाता है- किसको तारूँ, किसको पार उतारूँ--अर्थात् इस देवी के प्राणहारी पंजे में फँसे हुए लोगों की मैं रक्षा करता हूँ, जो जहां जाना चाहता है उसे वहीं पहुँचा देता हूँ।" उस समय तुम भी चिल्लाना--'हमें तारो, हमें पार उतारो, हमारे प्राण बचाओ" केवल इसी उपाय से तुम्हारे प्राण बच सकते हैं, अन्यथा मेरे समान ही तुम लोगों को भी दुनिया से जल्दी कूच करना पड़ेगा।

दोनों ने उससे पूछा—जब आपको यह बात विदित हो गई थी तो आपने बचने का प्रयत्न क्यों नहीं किया?

वह बोला—न पूछो भाई, होनहार जो ठहरी! मैं अभाग्य से इस देवी के मोह में फँस गया था और उस मोह का फल भुगत रहा हूँ।

यह उपाय सुनकर दोनों के जी में जी आया। वे तत्काल वहां से बाहर निकले, पूर्व के बाग में पहुँचे, वहां वापिका में स्नान आदि किया, फूल लिये और यक्ष के पास गए। उसे नमस्कार कर उसके बोलने की राह देखने लगे। कुछ

देर बाद यक्ष आया और चिल्लाया।

'किसको तारूँ, किसको पार उतारूं।'

यह शब्द सुनते ही दोनों भाई हाथ जोड़कर बोले—

'हमको तारो, हमको पार उतारो।'

यक्ष ने कहा—अभी तो तुम रक्षा करने की प्रार्थना कर रहे हो, पर मैं जब चलने लगूँगा, तभी वह देवी यहां आ खटकेगी और अपने हाव-भाव-विलासों और मधुर वचनों से तुम्हें ललचाएगी। कहीं ऐसा न हो कि तुम उस के फुसलाने में आ जाओ। यदि तुम अपने विचारों पर दृढ़ रहे तो निस्सन्देह मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। दोनों भाई बोले—'देवी के जहरीले हाव-भाव हमें आकृष्ट न कर सकेंगे, आप कृपाकर हमारी रक्षा अवश्य कर दें।'

यक्ष इस प्रकार आश्वासन पाकर घोड़े के रूप में परिणत हो गया और दोनों भाई उसकी पीठ पर सवार हो गए। देव वहां से रवाना हुआ और चम्पा नगरी के समीप आ पहुँचा।

उधर रत्ना देवी अपना नियत कार्य समाप्त कर अपने महल में आई। दोनों भाइयों की उसने इधर-उधर सब जगह तलाश की पर कहीं उनका पता न चला। उसने बगीचों में भी जाकर उन्हें ढूँढ़ा—पहले पूर्व के बाग में गई, फिर उत्तर और पश्चिम के बगीचे में गई, सुई की तरह उन्हें

खोजा पर पता न चला। सब जगह से निराश होकर अन्त में उसने अवधिज्ञान का उपयोग किया तो उसे मालूम हुआ कि दोनों सेलग देवता के साथ जा रहे हैं। यह मालूम होते ही उसके क्रोध का पारा आसमान में चढ़ गया. वह हाथ में तलवार लेकर द्रुत वेग से जिनरक्ष और जिनपाल के पास आ पहुँची और चिल्लाकर कहने लगी—'अरे जीवन की उपेक्षा करने वालो! तुम लोग मुझे परित्याग कर इस यक्ष के साथ क्यों आए? यदि तुम लोग एक बार भी मेरी ओर न देखोगे तो मैं क्षण भर में तलवार के घाट उतार दूँगी।' देवी की इस धमकी को सुनकर भी दोनों विचलित न हुए और न उन्होंने देवी की ओर नजर ही फेरी! देवी ने और भी अनेक प्रकार की घोर धमकियां दीं पर वे सभी निष्फल हुईं।

जब प्रतिकूल उपसर्गों का भय कुछ काम न कर सका तो उसने अनुकूल उपसर्गों की सृष्टि की। उसने एक सौन्दर्यमयी रमणी का रूप धारण किया। सुन्दर सिंगार से वह सज गई और संयमियों के भी संयम को खतरे में डाल देने वाले नाज़-नखरे और हाव-भाव आदि शृंगारिक चेष्टाएँ करती हुई बोली—"हाय मेरे प्यारे, इतने दिन तुम लोग कितने स्वर्गीय सुखों में रहे, कैसे दिव्य भोग भोगे और अब अबला को अकेली निराधार छोड़ कर चलते बने!

कैसा वज्र-कठोर हृदय है तुम्हारा ! तुम्हें मुझ पर ज़रा भी दया न आई !"

देवी ने अवधिज्ञान से जाना कि मेरे इस कथन से जिनरक्ष का दिल पिघल रहा है तो उसे कुछ सांत्वना मिली और फिर एक नया तीर छोड़ा—"अरे जिनरक्ष, तुम तो मुझे अतिशय वल्लभ थे। जिनपाल को तो मैं पहले ही कम चाहती थी, उससे मुझे प्रेम न था। मेरा रोम-रोम तो तुम्हारे ऊपर न्योछावर होता था, तुम्हारे लिए तो मैं अपने प्राणों को भी उत्सर्ग करने के लिए तैयार थी और हूँ, पर तुम ने मेरे प्यार को लात मार कर ठुकरा दिया है! देखो, मैं तुम्हारे प्रेम में फँस कर रो रही हूँ, चिल्ला रही हूँ और तुम्हारे वियोग में मैं जीवित भी न रह सकूंगी। जिनपाल मेरी ओर न देखे तो न सही, पर तुम्हारी निष्ठुरता को मैं कैसे सह सकूंगी ?"

जिनरक्ष का मन फिर कुछ ढीला हुआ। देवी ने भी अपने प्रयास को आगे बढ़ाते हुए सुगंधित द्रव्यों का चूर्ण बरसा दिया। चारों दिशाएँ सुगंध से महकने लगीं। फूलों की वर्षा होने लगी। तब वह फिर बोली—'हे नाथ ! हे प्राणाधार ! हे प्राण-वल्लभ ! आप इतने कठोर-हृदय न बनिए। आपके चरणों की चाकरी करने वाली इस दासी पर कुछ तो दया दिखलाइए ! तुम्हारे सिवा मेरा संसार में

शेलक यक्ष, घोड़ेका रूप धारण करके, जिनरक्ष और जिनपाल का रत्न–द्वीप से पार कर रहा है। और रत्नादेवी के प्रलोभन में फंस कर जिनरक्ष उसकी तरफ झांक रहा है।

और कौन है ? तुम्हीं मेरे जीवन हो, प्राण हो, सर्वस्व हो ! यदि आप मेरी रक्षा न करेंगे तो मैं अभी-इसी क्षण समुद्र में डूबकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दूंगी। संभव है मुझ से कोई अपराध बन पड़ा हो तो भी-कम से कम एक बार अपना मुँह तो दिखा दो।

अनुकूल उपसर्गों पर विजय प्राप्त करना हँसी-ठट्ठा नहीं है। जिनरक्ष देवी के प्रलोभन में फँस गया। सेलग यक्ष ने अपने ज्ञान बल से उसकी मृत्यु समीप आई देखकर उसे अपनी पीठ पर से उतार दिया। यक्ष की पीठ पर से उतरते ही देवी की बन पड़ी। वह कड़ककर बोली- 'दुष्ट कहीं के, धोखेबाज़ ! बड़ी कठिनाई से तू मेरे हाथ आया है। तैयार होजा मृत्यु-रमणी का आलिंगन करने के लिए।' यों कह कर जिनरक्ष को देवी ने आकाश में उछाल दिया और जब वह नीचे की ओर आया तो उसे तलवार की नोंक पर झेला। तलवार से उसका सारा शरीर जर्जरित हो गया और अन्त में वह प्राणों से हाथ धो बैठा।

जिनरक्ष को समाप्त करके वह फिर जिनपाल के निकट आई। उससे फिर बहुत-विनय की, नये-नये हाव-भाव-विलास किये पर जिनपाल अन्त तक स्थिर रहा, वह उसके मोह-पाश में न फँसा, न फँसा। तब हार मानकर देवी रत्नद्वीप लौट गई। इधर यक्ष जिनपाल को चम्पा नगरी

के उद्यान में ले आया और वहां छोड़कर वापस चला गया।

जिनपाल अकेला घर लौटा है, यह देखते ही उसके माता-पिता का कलेजा धक से बैठ गया। जिनपाल ने उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाया। जिनरक्ष की मृत्यु से घर भर में शोक उमड़ पड़ा, पर शोक या विलाप ने आज तक ही किसी मृतक को नहीं लौटा पाया है।

कुछ समय के पश्चात् भगवान महावीर चम्पा नगरी में पधारे। भगवान् के शुभागमन का संवाद सुन नगरी की सारी जनता उनका उपदेश सुनने को उलट पड़ी। राजा कोणिक भी उपदेश सुनने के लिए उपस्थित हुआ। भगवान के प्रभावशाली और मंगलमय उपदेश को सुन कर जिनपाल को वैराग्य हो गया। उसने माता-पिता की स्वीकृति लेकर जिनदीक्षा धारण की। घोर तपस्या और निरन्तर ज्ञानाभ्यास कर के अन्त में वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहां से स्थिति पूरी होने पर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर अष्ट कर्मों का समूल उन्मूलन कर वह सिद्धि प्राप्त करेंगे, जो जीवन की महान् से महान् साधना है और जिसे प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता।

## उपसंहार

प्रस्तुत कथा के द्वारा जो वस्तु प्रकट की गई है वह

इतनी स्पष्ट है कि उसके सम्बन्ध में अधिक उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता ।

जिनपाल और जिनरक्ष को उनके माता-पिता ने बहुतेरा समझाया कि—बेटा ! अब समुद्र यात्रा न करो, पर उन्होंने एक न सुनी वे अपने हठ पर कायम रहे और उसका फल उन्हें शीघ्र ही भुगतना पड़ा । जहाज डूबा, माल डूबा, अनेक आदमी जल में डूब मरे और वे दोनों भी आयु कर्म की प्रबलता से ही बच पाये । इससे स्पष्ट है कि माता-पिता आदि स्वभावतः कल्याण की अभिलाषा करने वाले गुरुजनों की आज्ञा शिरोधार्य करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है । गुरुजनों को लौकिक आप्त कहा गया है और आप्त के वाक्यों की अवहेलना करने से अकल्याण ही होता है ।

इसके बाद जिनपाल और जिनरक्ष देवी के चंगुल में फँस गए । सौभाग्य का उदय था कि उन्हें आत्मरक्षा का उपाय भी मिल गया पर जिनरक्ष विचलित हो गया । उसके विचलित होने का फल उसे तत्काल ही मिल गया । उसे प्राणों से हाथ धोना पड़ा ! सचमुच विषय, विष से विषम स्थिति की उत्पत्ति कर देते हैं । अनादि काल से यह आत्मा विषय वासनाओं का शिकार हो रहा है और इसी कारण उसकी स्वाभाविक सामर्थ्य आच्छादित हो गई है,

वह विकृत हो रहा है और नरक-निगोद आदि की घोरतर वेदनाओं को भुगत रहा है। विषय-वासनाएँ ही पतन का कारण हैं। इन्हीं से इहलोक और परलोक—बिगड़ते हैं। जो महानुभाव सांसारिक वेदनाओं से बचना चाहते हैं और असीम एवं शाश्वत सुख को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें विषयों का संसर्ग त्यागकर आत्मा में लीन होना चाहिए। यही निवृत्ति है और इसी में एकान्त मंगल है—श्रेय है।

❀ ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ❀